सो
म
सी

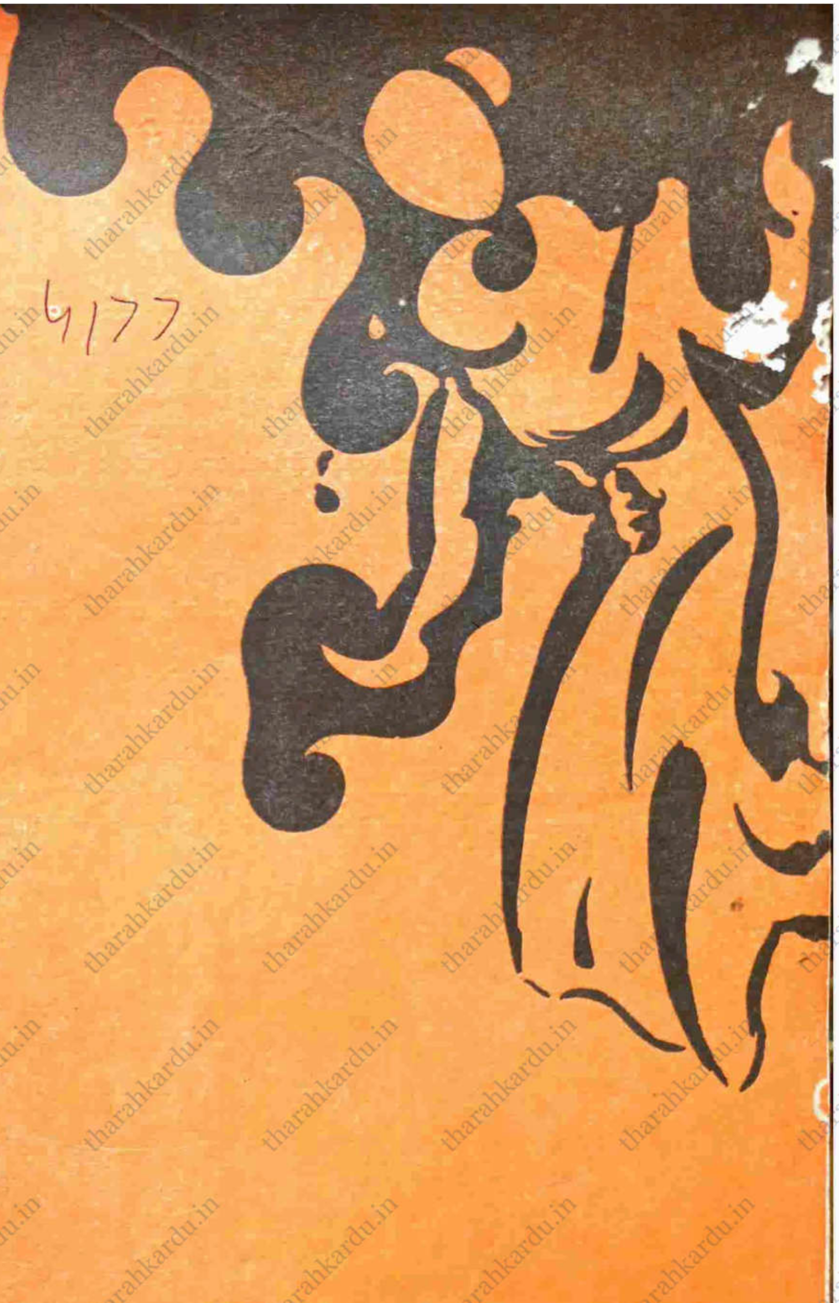

4177

tharahkardu.in

Scanned with CamScanner

लेखकों से

--'सोमसी' पर्वतीय कला, संस्कृति तथा भाषा के क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका होने की अभिलाषा संजोये हुए है।

हमारा यह प्रयत्न है कि 'सोमसी' के प्रत्येक अंक को अधिकाधिक संग्रहणीय बनाया जाए। साहित्यकार एवम् कलाकार चिरन्तन सत्य का उद्घोषक होता है और अपनी कृतियों के द्वारा अमर होना चाहता है। सोमसी के प्रत्येक अंक की भी चिर-नवीन होने की साध है और इसके लिए आपका सहयोग मिला भी है,

परन्तु

पर्वतीय संस्कृति, भाषा एवम् कला के अभी तक अनेक विषय अछूते रहे हैं,

इस हेतु

सांस्कृतिक इतिहास, नृत्तत्वशास्त्र, ध्वनि-शास्त्र, समाज-शास्त्र, कलागत विशेषताएं आदि विषयों के अतिरिक्त लोक-संगीत, परम्पराओं की व्याख्या, लोक-नाट्क। नृत्य लोक-गाथा, त्यौहार तथा लोक-भाषा आदि के विविध पक्षों को उजागर करने के सम्बन्ध में कागज के ओर लिखित अथवा टंकित शोधपूर्ण लेखों का स्वागत होगा।

--सम्पादक

सोमसी

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष 3 | अप्रैल, 1977 | अंक 2

प्रबन्ध-सम्पादक
एच० सी० पराशर

सम्पादक
डा० बंशी राम शर्मा

परामर्श-मण्डल

1. आचार्य दिवाकर दत्त शर्मा
2. श्री खेम राज गुप्त
3. श्री हरि राम जसटा
4. श्री मौलू राम ठाकुर

सहयोगी

सरोज शर्मा

प्राप्ति-स्थान:

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परी महल,
शिमला-171009

सोमसी

वर्ष 3 अंक 2

पूर्णांक—9

जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्तूबर में प्रकाश्य।

लेखक के विचारों तथा दिए गए तथ्यों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं।

प्रकाशित रचनाओं को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में उद्धृत करने के लिए सचिव, हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परी महल, शिमला-9 की अनुमति अनिवार्य है।

वार्षिक चंदा—१२ रु०

एक प्रति—३ रु०

विषयानुक्रमणिका

लेख	लेखक	पृ०
1. कांगड़ा के लोकगीतों में काव्यत्व	—मनोहर लाल	1
2. बाघ भित्तिचित्र और कांगड़ा कलम के सन्दर्भ में	—दलजीत खरे	16
3. लाहुल के मन्दिर और गोम्पे	—बलराम	24
4. पर्वतीय क्षेत्र और महाभारत काल में बहुपति प्रथा	—सत्यपाल शर्मा	34
5. हस्त शिल्प और लोक-कलायें	—शाम सुन्दर जैतिक	42
6. पुण्य स्थल–पराशर झील	—विद्या चन्द ठाकुर	46
7. रुक्मणी कुण्ड	—हुक्म सिंह ठाकुर	50
8. गदयार क्षेत्र का त्यौहार : बसो	—अमर सिंह रणपतिया	53
9. भावनाओं का चितेरा उभरता चेहरा–मुन्शी राम	डा० सुशील कुमार फुल्ल	59
10. हिमाचल में आयुर्वेद का अतीत	—सुरेन्द्र कुमार शर्मा	62
11. अकादमी की गतिविधियां	—वेद प्रकाश अग्नि	65
12. जनपद और विवाह-गीत	—शकुन्तला शर्मा	70
13. Studies in the Systematics of Himachali Linguistics	—Dr. Siddheshwar Varma	76
14. तुलनात्मक वाक्यावली		83
15. सिरमौरी पहाड़ी कविता	—कु० मीना ठाकुर	85
16. पाठकीय		90

सम्पादकीय

अथर्ववेद (71/7/24) में लिखा है कि 'ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह' जिसका अर्थ यह है कि वेद-मन्त्रों की रचना से पूर्व प्राचीन कथाओं के मौखिक रूप से कहने का प्रचलन था। निश्चित रूप से यही कथाएं कालान्तर में हमारे धार्मिक साहित्य का अंग बनीं। इन में से अनेक कथाएं लिपिबद्ध नहीं हुईं और उनमें या तो विकृति आ गई या या वे समय के गर्भ में विलीन हो गईं।

हमारे देश में धर्म और संस्कृति का संयुक्त रूप प्रचलित है। व्यक्ति और समाज को धारण करने के कारण ही धर्म का उद्भव हुआ है। धर्म का प्रवर्तन किसी एक व्यक्ति अथवा ग्रन्थ के द्वारा नहीं हुआ है और न ही किसी एक व्यक्ति पर उसका दायित्व होता है। विचारकों की यह सामान्य धारणा है कि जिस कार्य से समाज की आधार-भित्ति का विघटन होता हो, वह धर्म नहीं है। संस्कृति का मूल उद्देश्य भी समाज का हित-साधन है अतः धर्म और संस्कृति समाज व व्यक्ति के सम्बल हैं।

हमारी संस्कृति का मुख्य गुण 'समन्वय भावना' रही है। 'अनेकता में एकता' अथवा 'अविभक्तं विभक्तेषु' ही हमारा सच्चा ज्ञान रहा है। युग युगान्तर से हमारी यह साध रही है कि हमारी संस्कृति इतनी विराट हो कि उसमें विभिन्न सभ्यताएं, वर्ण, धर्म और मान्यताएं समन्वित हो कर नित्य निखर सकें। इसी लिए तो सिखाया जाता रहा है कि—

अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम् ।
उदार चरितानात् बसुधैवकुटुम्बकम् ॥

वर्तमान समय में, जब कि व्यस्त मानव को अपने सम्बन्ध में चिन्तन करने की अधिक फुर्सत नहीं, हमें अपने आसपास देखने की विशाल दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है । हमारे चिन्तन तथा कार्यकलाप का प्रयेक अंग हमारी संस्कृति का अटूट भाग है । हिमालय के समीपस्थ भागों की संस्कृति अति प्राचीन है । डा0 सम्पूर्णानन्द तथा ए0 सी0 दास के मतानुसार आर्यों का मूल निवासस्थान सप्तसिन्धव था। यह प्रदेश गान्धार से अर्वली (अरावली) पर्वतमाला तक फैला हुआ था। आरम्भिक काल में अर्वली तथा विन्ध्य पर्वतमाला के उत्तरी भाग में समुद्र था। ऋग्वेद (1-32-12) के अनुसार इन्द्र ने वृत्रासुर से गौओं तथा सोम को जीता था और सप्तसिन्धुओं के प्रवाह को मुक्त किया था ।

प्राचीन संस्कृति, भाषा तथा कला के अलिखित अवशेष जो पर्वतीय क्षेत्रों के जनमानस में अन्तिम श्वास लेने की सी स्थिति में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, न जाने कितना पुराता अव्यक्त इतिहास अपने में संजोये हुए हों । इनका छोटे से छोटा भाग हमारे सांस्कृतिक इतिहास की मूल्यवान तथा दुर्लभ कड़ी है, यही मानकर हमें अपने आस-पास की संस्कृति का अध्ययन-संरक्षण करना चाहिए । संस्कृति के अध्येता के लिए सब कुछ मूल्यवान है, संग्रहणीय है ।

सोमसी के वर्तमान अंक में इसी उद्देश्य से कुछ रचनायें प्रकाशित की जा रही हैं, आशा है विद्वान पाठक इस प्रयास को उपयोगी पाएंगे ।

—बंशी राम शर्मा

कांगड़ा के लोकगीतों में काव्यत्व

—मनोहर लाल

रससिद्ध कवि काव्य-रचना करते समय अभिव्यंजना-कौशल को अपनी रचना-प्रक्रिया से विलग नहीं होने देता। भावों के सहज उच्छलन या उद्रेक को जब वह शब्दजाल में जकड़ देता है तब उसकी अनुभूति अभिव्यक्ति बन कर सार्वभौमिक कृति बन जाती है, उसमें विशेष प्रकार की पकड़ समा जाती है जो पाठक के भावबोध को भी पकड़ लेती है। ठिठक जाने को विवश कर देती है और वह उन पंक्तियों को बार बार पढ़ता है। बार-बार उसे नई नई रसानुभूति होती है। वह उन पंक्तियों को रेखांकित कर देता है और बिना कण्ठस्थ किये ही वे पंक्तियाँ उसका कण्ठहार बन जाती है। सहृदय तथा जागरूक पाठक को इस स्तर तक पकड़ पाने की शक्ति सारे कवियों में नहीं होती और जिन कवियों की कला इस गुण की धनी होती है उनकी भी हर कृति इस विशेषता से अलंकृत नहीं होती। यह विशेषता यदि कहीं अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है—तो लोक साहित्य में। लोक साहित्य में भी लोक गीतों में। लोक कवि अपढ़ होता है। काव्यशास्त्र के दुरुह सिद्धान्तों की हवा उसकी अभिव्यक्ति का स्पर्श नहीं कर पाती, इसलिए उसकी अनुभूति काव्य के बाह्य उपकरणों से सदैव अछूती रहती है, एक दम पावन। उसकी अभिव्यक्ति में जो कुछ चमत्कार, आकर्षण या अनोखापन होता है वह सीधे उसके हृदय से टकरा कर लोकवाणी में अभिव्यक्त हो जाता है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता का प्रवेश नहीं हो पाता। लोकगीतों का यह प्रवाह स्वच्छन्द होकर प्रवाहित होता है। लोकतत्व लोककवि की कल्पना का आश्रय पाकर मौलिक उद्भावनाओं को जन्म देता चलता है—निरन्तर, निर्बाध गति से।

मैंने ऊपर जिस अभिव्यक्ति, मूलतः लोकाभिव्यक्ति का उल्लेख किया है उसके महत्व को प्रतिपादित करते हुए डा0 सत्येन्द्र ने लिखा है —"यह एक अविछिन्न संस्कार की भांति मानव के जन्म से आज दिन तक चली आई है। इस प्रतिभा की किसी नदी के प्रवाह से तुलना की जा सकती है। इसी नदी में प्रवाह की अविच्छिन्नता के अतिरिक्त जो समय समय और स्थान स्थान पर उठने गिरने वाली लहरें हैं, वे मानों सभ्यता, मनीषिता तथा उच्चता से अभिमंडित होकर कला अथवा साहित्य की महत्तम महानताओं को प्राप्त कर लेती है। जिस प्रकार लहरें उठकर फिर नदी में विलुप्त हो जाती हैं उसी प्रकार साहित्यिक और कलात्मक उत्थान की तरंगें लोकवार्ता अथवा लोकाभिव्यक्ति के महानद में अपने नाम और रूप दोनों विलीन कर देती हैं[1] ।"

स्पष्ट है कि नागर साहित्य लोकसाहित्य में जन्म लेकर लोक साहित्य में ही विलीन हो जाता है। अस्तु, लोकसाहित्य की अभिव्यक्तिजन्य अनुभूति उदात्त है। निःसन्देह सरलता, सहजता तथा अकृत्रिमता लोक काव्य के विधायक तत्व हैं। लोक गीतों को काव्यांगों की शास्त्रीय कसौटियों पर कस कर मूल्यांकित करना साहित्यिक न्याय नहीं है। कारण, लोक कवि की परिधि में इन काव्यांगों का कोई महत्व नहीं है। यह दूसरी बात है कि काव्यांगों के विविध पहलुओं के दर्शन उसमें हो जायं। इससे उसकी निजी गरिमा ही बढ़ेगी। कांगड़ा के लोक-गीत भी इस कथन का अपवाद नहीं हैं। प्रस्तुत लेख में मेरा उद्देश्य कांगड़ा लोकगीतों में शास्त्रीय धरातल पर अलंकार, रस, छन्द कल्पना, प्रतीक, बिम्ब, शब्द योजना आदि काव्यांगों का संधान करना अधिक महत्वपूर्ण नहीं

1. मध्य युगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन–डा0 सत्येन्द्र, पृ0 60 ।

Scanned with CamScanner

है। मेरा प्रयोजन मात्र इतना भर बताना है कि काव्यांगों की सौंदर्यानुभूति की दृष्टि से ये गीत कितने समृद्ध हैं, कितने धनी हैं । इस दिशा में मेरा यह लघु प्रयास शोधजन्य खींचातानी से मुक्त है । कांगड़ा लोकगीतों के अभिव्यञ्जना-शिल्प के जिन उपादानों का सहज परिचय हो जाता है, वे इस प्रकार हैं :—

(क) **अलंकार-योजना**.—काव्यशास्त्र में अलंकारों की प्रमुखतः दो कोटियां हैं—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। शब्दालंकार में कवि शब्द-योजना के वैशिष्ट्य पर विशेष ध्यान देता है जब कि अर्थालंकारों में अर्थ की शक्ति के प्रभाण पर ।

शब्दालंकारों की दृष्टि से कांगड़ा के लोकगीतों में अनुप्रास, पुनरुक्ति-प्रकाश तथा वक्रोक्ति की बहुलता है। अनुप्रास इन लोकगीतों की शब्द-योजना में वर्ण संगीत तथा वर्ण संगीत की रचना करने में सहायक सिद्ध हुआ है। साथ ही भावों में सहज प्रवाह आ गया है । अनुप्रास का सारे का सारा प्रयोग सहज है अकृत्रिम है ।

इसलिए इन लोक-गीतों को कलात्मक कविता के अलंकरण के बोझ से बचा हुआ ही समझिये । लोक-कवि अनुप्रास के भेदों-प्रभेदों में नहीं उलझा है, बल्कि अनुप्रास के भेद-प्रभेद स्वतः ही लोकगीतों में घर कर गये हैं । 'छेकानुप्रास' की तो कांगड़ा लोकगीतों में बहुलता ही है । प्रायः प्रत्येक गीत की प्रत्येक कड़ी में एक या अनेक वर्णों की एक एक बार आवृत्ति अवश्य हुई है, यथा—.

'झाडुए बुहाडुए तू कजो झांकदी, झला कजो मारदी ।
दो हत्थ बूटणे दे लायां फुलनू—गल्लां होई बीत्तियां ।।

यहां ड, ए, क, ज, झ, द, ब, या, ह, तथा य वर्ण की मात्र एक-एक बार आवृत्ति हुई है, इसलिए यहां 'छेकानुप्रास' अलंकार है । वर्णो की यह नियोजित आवृत्ति लोकगीत की पहाड़ी धुन के सांगीतिक सौंदर्य का प्राण बन गयी है । इसी प्रकार 'वृत्यनुप्रास' में एक या एकाधिक वर्णों की आवृत्ति दो या दो से अधिक बार होती है । कांगड़ा के लोक-गीत काव्यकला के इस उपादान से भी रिक्त नहीं है :—

घिरी घटा घनघोर, किणियां ठंडियां पेइयां ।
बाग बगीचें बुल-बुल बोलें, धारां बोलण मोर ।।

उक्त उदाहरण में 'घ' तथा 'ब' वर्ण की एकाधिक बार आवृत्ति सांगीतिक लय को तीखा करने में समर्थ बन पड़ी है । दन्त्याक्षर तथा अन्त्यानुप्रास तो प्रत्येक गीत में पाया जाता है, उसकी चर्चा करना व्यर्थ है । इन लोक-गीतों में काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए एक ही शब्द एक ही अर्थ में, अनेक स्थलों पर पुनरुक्त हुआ है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति प्रकाश' इन गीतों की भाव-व्यंजना का विशिष्ट तत्व बन गया है । एक नहीं, अनेक गीतों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है । क्योंकि ये आवृत्तियां चमत्कारपूर्ण नहीं हैं, इसलिए इसे 'पुनरुक्ति दोष' नहीं कहा जाएगा । कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं :—

'चिव-चिव, चिव-चिव चिड़वा जो करदा,
उड़ी-उड़ी, डालां-डालां बौहन्दा,
ओ जी डाली-डाली बौंहन्दा ।

'चिव', 'उड़ी', तथा डाली की आवृत्ति गीत के भाव-सौन्दर्य तक चिड़वे की प्रकृति का चित्रण करने में कितनी स्पष्ट बन पड़ी है, इसका ज्ञान संगीत की स्वर-लहरी सहज करा देती है ।

लोक-कवयित्रियों ने शोकजन्य मनोवेगों के सूचनार्थ किसी किसी शब्द का बार-बार प्रयोग करके शोक-गीतों में "वीप्सा" अलंकार की भी सुन्दर निबन्धना कर डाली है (या हो गई है) कुछ भी समझ लीजिये–

हा ! हा !! जो बावल साड़िया ऽऽऽ
ओथा कंह् र पलटिया, जो बाबल साड़िया ऽऽऽ'

××××

'हा ! हाय !! जो बावल साड़िया, जंगल डेरे ऽऽऽ
चौंका पाइयो चौकणा, कपलां दा गोआ मुंगाइयो, जंगल डेरे ऽऽऽ

××××

हाय ! हाय !! बावल जंगल डेरे ऽऽऽ
जल गेइआं मसरू तां दरिआइयां, बावला जंगल डेरे ऽऽऽ
जल-बल गिआ सरीर, बाबल जंगल डेरे ऽऽऽ
सुरगवास ! सुरगवास !! सुरगवास !!!

यहां हा ! हा !!, 'हाय ! हाय!! 'जंगल डेरे' तथा 'सुरगवास' की आवृत्ति शोकजन्य कातरता अथवा विह्वलता को बढ़ाने में भी समर्थ है और मृत्यु की भयानकता की भी व्यंजक है ।

वक्रोक्ति का सौन्दर्य भी 'कांगड़े दा नौकर' गीत में दृष्टव्य है, जब नौकर गुस्से में भर कर पीहर से पत्नी को लेने घोड़े पर सवार होकर जाता है और उसकी जुणास (पत्नी) को लगता है जैसे उसका भाई आया हो तो उस की भ्रान्ति मिटाने के लिए लोक-कवि वक्रोक्ति में कह गया,

'कांगड़े दे नौकरा जो छुट्टिआं जो होईयां,
घोड़ा जे सज्जिया, काठी जे कस्सी
सौहरियां दें तुरत दुड़ाया,
अंगणे च खड़ी कहिणा जे लग्गी
पिठी पर बैठा मेरा भाई,
भाई तां हुन्दे अम्मा ते जाए,
मैं तेरे बापू दा जुआई ।

अन्तिम चरण में 'पति' शब्द की व्यंजना वक्रोक्ति से ही हुई है ।

अर्थालंकार.—अर्थ के गांभीर्य द्वारा कांगड़ा लोकगीतों के काव्यत्व में अनेक अलंकारों का संधान किया जा सकता है । हो सकता है प्रगाढ़ परिश्रम करने पर उपलब्धि अत्यल्प ही हो तथा बुद्धिजीवियों की दृष्टि में वह परिश्रम 'बाल की खाल खींचना' सिद्ध हो जाये । समग्रता की दृष्टि से कांगड़ा लोकगीतों का पाठ करते समय मैंने अनुभव किया है कि लोककवियों ने स्वच्छन्द भाव से उपमा अलंकार की निबन्धना जी भर कर की है । 'उपमा' अलंकार के लिए कवि के सामने अपार लोक-जीवन उन्मुक्त पड़ा रहता है । वस्तु वर्णन हो या मनोभावों का अंकन, वह नूतन तथा मौलिक अप्रस्तुतों का चयन प्रकृति, सामाजिक वातावरण और जीवन, पशु-पक्षी जगत और शास्त्र-ज्ञान से सहज कर लेता है । कांगड़ा लोकगीतों में उपलब्ध उपमा अलंकार का विन्यास सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना के अधिक समीप है । सादृश्य का सीधा सम्बन्ध रूप और आकार से है । कांगड़ा लोकगीतों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के सादृश्य के आधार पर ही रूप तथा सौन्दर्य की व्यंजना हुई है ।

Scanned with CamScanner

जहां जहां लोक कवियों ने उपमानों की योजना की है वहां लोकगीतों में विशेष प्राणवत्ता तथा रसात्मकता आ गई है । उपमा का परिवेश ही ऐसा है । पण्डित राम-दहिन मिश्र के शब्दों में, "काव्य के लिये सादृश्य में सौन्दर्य का होना बहुत आवश्यक है । इसी से पण्डितराज ने उपमा का यह लक्षण लिखा कि 'वाक्यार्थ को सुशोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य का नाम 'उपमा' अलंकार हैं' । सुन्दरता का अर्थ चमत्कार होना और चमत्कार का अर्थ है—वह विशेष प्रकार का आनन्द जो सादृश्यों का हृदयाह्लादक होता है । यह सहृदय की सुन्दरता के यथार्थ का पारखी है ।"[1] कांगड़ा लोकगीतों की उपमाएं भी उक्त कथन का अपवाद नहीं है । कुछ चुने हुए उदाहरण प्रस्तुत हैं:—

(1) 'लोक तां गलांदे कालो-काली चंचलो
तू तां मरुए दी डाली ओ
हाए वो मेरीये जिन्दे तू तां मरुए दी डाली ओ ।

(2) "निम्हा-निम्हा तेरीआं ओ आखीं दा कजरा,
दिले विच मार दा कटार ओ
कियां चलदी म्हड़ी सपोइये दी चाल ओ ।"

(3) 'दंद तां तेरे चम्बे दिआं कलियां,
खोड़ा दी दातण लाई ले तूं
आखी तां तेरिआं अम्बे दिआं फाड़ियां
सुरमे सलाइयां पाई बाई ले तूं ।'

(4) 'नणदा जिहीआं उदिआं अक्खीं माए मेरीये
तेरे तां जिही उदी नुआर, असां उदे मैरम नाहीं ।'

(5) 'गंगिये, बदाम रंगिये,

(6) 'उंगलियां मेरीआं जे कमोए दीआं फलिआं' ।

(6) 'बरफां दी टोपी पहिन खड़ोती
खड़ी है धौलीधार वे, कांगड़े दा टीला ।'

(8) 'जिआं कुकड़िआले दी छेड़ा ओ
तिहां मीएं दी तरेड़ा हो ।'

(9) 'पट्टीआं तां अप्पणीआ दी तू लज्ज बट्टी लै राजे नौकरा
नैना दा डोल वणाइया राजे नौकरा ।'

(10) 'आउंदे कनें दुनियां बसाई देणी
तेरे दिले दी कली खिलाई देणी ।'

रूप-सौन्दर्य की व्यंजना के उक्त सारे उपमान—श्यामल 'चैंचलों' के लिए 'मरुए की डाली' 'कजरे' के लिए 'कटार' 'दांतों' के लिए 'चम्बे की कलियां' नयनों के लिए 'आम की तिरछी कटी हुई फाड़ी' (इस उपमान का प्रयोग उत्तर प्रदेश के लोकगीतों में भी मिलता है—'आंखि तोरे हवे ए लोभिया, आमवा के फारियां)', 'पानी भरने का डोल' 'गोरे रंग' के लिए 'बादाम' 'उंगलियों' के लिए 'कमोए की फलियां', 'दिल' के लिए 'कली',

1. काव्य में अप्रस्तुत योजना–प0 राम दहिन मिश्र, पृ0 163 ।

धौल-धार की सफेद चोटी के लिए 'सफेद टोपी', 'गुस्से की हुंकार' के लिए 'कुकड़ियाली की ध्वनि', 'लज्ज' (रस्सी) के लिए 'पट्टियां' ग्रामीण वातावरण से चुने गये है । इन उपमानों की योजना परम्परागत नहीं है, ये नितांत मौलिक हैं । लोक-कवियों ने अपने युग-बोध तथा चतुर्दिक वातावरण के प्रभाव को संग्रह किया है । ये सारे उपमान उसकी दिन-चर्या तथा लोक जीवन से हैं इसलिए 'प्रस्तुत' के सादृश्य, साधर्म्य तथा प्रभाव-साम्य को स्पष्ट करने में समर्थ हैं । वास्तव में सादृश्य मूलक इन अप्रस्तुतों का प्रयोग उपमेयों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है । । ग्राम्य सौन्दर्यानुभूति के प्रतीक ये उपमान कांगड़ा घाटी की माटी की गंध के भी व्यंजक हैं । उपमा के साथ साथ यत्र तत्र उत्प्रेक्षा तथा रूपक प्रभृति अलंकारों का भी प्रयोग कांगड़ा के लोकगीतों में हुआ है, पर बहुलता में नहीं है । कांगड़ा लोक गीतों की अलंकृति अनुप्रास तथा उपमा ही हैं ।

(ख) रस-परिकल्पना.—रस तो इन लोक गीतों की आत्मा है । लोक गायक के मार्दव कंठ पर आरूढ़ होकर जब इन गीतों की स्वर-लहरी दिशाओं में तरंगित होती है तब रस तो मानो निचुड़-निचुड़ पड़ता है । लोकगीत-प्रेमियों को अकसर लोक-गायकों से यह फरमाइश करते सुना जा सकता है—'कोई चुड़-चुड़दा (जिससे आनन्द टपके) गीत सुनाओ' ये गीत जैसे रस ही हैं । इस ही ने शब्दों का बाना पहन लिया है । इन्हीं लोकगीतों पर नहीं, देश भर के लोकगीतों पर नागर काव्य की उत्कृष्ट रचनाएं न्यौछावर की जा सकती हैं । डा0 कृष्ण देव उपाध्याय के शब्दों में—"इन गीतों की रसात्मकता के आगे बड़े बड़े कवियों की सरस सूक्तियां भी सूखी जान पड़ती हैं । एक एक लोकगीत क्या है, रस से लबालब भरा हुआ प्याला है जिसके पीने से प्यास बुझती नहीं बल्कि और बढ़ती है । क्या हिन्दी और क्या बंगला सभी प्रान्तों के लोकगीतों में यही रसप्रवाह प्राप्त होता है जो जन जीवन को सदा आप्लावित करता हुआ उसे हरा भरा बनाये रखता है । लोकगीतों की पयस्विनी जिस प्रदेश में प्रवाहित होती है, वह अपने तट पर स्थित तरुणों को ही जीवन-प्रदान नहीं करती, बल्कि उसका शीतल प्रवाह सभी जनों को समान भाव से आनन्द प्रदान करता है । अपनी इसी रसात्मकता के ही कारण लोक जीवन से सम्बन्धित ये गीत मानव-हृदय को इतना 'अपील' करते हैं । शुष्क हृदय भी इन को एक बार पढ़ कर आद्रित हुए बिना नहीं रह सकता ।"[1]

रस परिकल्पना की दृष्टि से भी कांगड़ा के गीत पूर्णतः समृद्ध हैं । इन लोकगीतों की रचना विशिष्ट व्यक्तियों, देवताओं, देवस्थानों, प्राकृतिक सौंदर्य स्थलियों, महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी घटनाओं अथवा जन्म से मृत्यु पर्यन्त सामाजिक संस्कारों एवं व्यक्ति-सम्बन्धों के संदर्भ में अधिक हुई है । जीवन के सुख-दुखात्मक संदर्भों तथा मनोभावों को इन गीतों में सुथरी अभिव्यक्ति मिली है । कांगड़ा के लोकगीतों में रसराज शृंगार को ही अधिक अभिव्यक्ति मिली है । संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार की इन लोकगीतों में प्रधानता है । 'धर्मू' तथा 'मोहणा' सम्बन्धी गीतों में वीर रस को अच्छी अभिव्यक्ति मिली है तो विशेष मांगलिक पर्वों, यथा विवाह, जनेउ (यज्ञोपवीत) आदि पर गायी जाने वाली गालियों में हास्य रस प्रधान है । भक्तिपरक गीत शांत रस से निष्पन्न हैं । मृत्युगीतों में करुण रस व्यंजित है । इन लोकगीतों में 'वात्सल्य' का भी अच्छा चित्रण हुआ है ।

शृंगार.—लोकगीत क्योंकि भावों का सहज उच्छलन होते हैं इसलिए इन में जिन भावों की अभिव्यक्ति मिलती है वे स्वच्छ तथा प्रेरणाप्रद होते हैं । कांगड़ा के प्रेम-गीतों में संयोग शृंगार का मार्मिक चित्रण है । भानुदत्त ने नायक और नायिका के परस्पर अनकूल होने से दर्शन, स्पर्शन और संलाप आदि के कारण अनुनय, मान सुख या संभोग से उत्पन्न होने वाले आनन्द को 'संयोग' कहा है[2] । 'कूंजू-चैंचलो,' 'राझूं-फुलमू',

(1) लोक साहित्य की भूमिका : डा0 कृष्ण देव उपाध्याय, पृ0 197 ।
(2) 'तत्र दर्शन स्पर्शन संलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं' 'सुखं' परस्पर संयोगेनोत्पाद्यमान आनन्दो वा संयोगः' । 'संयोगो बहिरिन्द्रिय सम्बन्ध :'—रसतरंगिणी, पृ0 128 ।

'राजा हेड़े चढ़ियो', 'ओ मुन्डिया प्रिथिसिंघा', 'पिपले दे हेठ गोरी कँ खड़ी,' 'इक गल्ल सुणवी जैयां खूहे पर पाणी भरदीये मटियारे', 'गंगी कनें सुन्दर', 'दूरे तेनों मार अक्खीयां', 'संभली संभली के चल्लियां छोरी', 'गंगीए बदाम रंगिये', 'मेरी दोसतीए', तथा 'देवर भाभी' के कई गीत भानुदत्त की उक्त परिभाषा पर खरे उतरते हैं । कांगड़ा के संयोग श्रृंगारपरक अनेक गीत कथोपकथन शैली में हैं । सम्वादात्मक होने के कारण उन में सहज रूप से तीव्र रसोद्रेक हुआ है । उदाहरण के लिए 'कूजू तथा चैंचलो' के प्रेम-सम्वाद में, दर्शन, स्पर्श तथा संलापजन्य संयोग सुख का रसास्वादन किया जा सकता है–

कूजू : 'कपड़े धोआं छम-छम रोआं चैंचलो, मुखों बोल जबानी ओ ।
हाए बो मेरीए जिन्दे मुखों बोल जबानी ओ ।।'

चैंचलो : 'मेरे कनें अत्थ मत लांदा कूजूआ, विच गजरा नशानी ओ,
हाए बो मेरीए जिंदे बिच्च गजरा नशानी ओ ।'

कूजू : "तेरें पिच्छें होइया बदनाम चैंचलो, कजो बणदी बगानी ओ,
हा बो मेरीए जिन्दे, कजो बणदी बगानी ओ ।'

चैंचलो : राती ओ बराती मत औंदा कूजूआ, वैरीओ भरीआं वन्दूकां ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे, बैरीयां भरीआं बन्दूकां ओ ।"

कूजू : 'मेरी तेरी प्रीत पुरानी चैंचलो तू तां कदर न जाणी ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे तूं तां कदर न जाणी ओ ।'

चैंचलो : 'मेरी बांई लाल चूड़ा कूजूआ, अग्गै गजरा नशाणी ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे अग्गै गजरा नशाणी ओ ।'

कूजू : 'लोक तां गलांदे काली-काली चैंचलो, तू तां मरूए दी डाली ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे, तू तां मरुए दी डाली ओ ।'

चैंचलो : 'तू तां चलिआ प्रदेश कूजूआ, मिजो देई जा नशाणी ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे, मिजो देई जा नशाणी ओ ।'

कूजू : 'पंज बो रुपइऐ तिज्जो, नाले चैंचलो गूठी दिदा नशाणी ओ,
हाय बो मेरीये जिन्दे गुठी दिदा नशाणी ओ ।'

चैंचलो : 'मेरा बो चेता नी भुलायां कूजूआ, मिजो करी लैणा चेतें ओ,
हाय बो मेरीए जिन्दे, मिजो करी लैणा चेतें ओ ।

कूजू : 'ए तां रैंह्णी निता दी याद चैंचलो, भाएं मरी ओ जाणा ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे भाए मरी ओ जाणा ओ ।'

चैंचलो : 'नित दी होइयां सलामा कूजूआ, शिवजी करगा रखुआली ओ,
हाए बो मेरीए जिन्दे, शिव जी करगा रखुआली ओ ।'

इस प्रसिद्ध लोक गीत में, पूर्वानुरागजन्य प्रेम की पीड़ा, मिलन, संयोगजन्य अकुलाहट, प्रेम प्राप्ति की उत्कट लालसा, पूर्व-प्रीति, संयोगजन्य सामाजिक बाधा, रूप-सौन्दर्य वर्णन, प्रेम की साक्षी के रूप में अंगूठी, स्मृति-चिन्ह, जन्म-जन्मांतर तक प्रेम-निर्वाह की सत्य-निष्ठा तथा भावी मंगलकामना का चित्रण, प्रेम की अखण्डता तथा पावनता का द्योतक है ।

लोक कवि के ऐसे अनेक प्रेम प्रसंग कांगड़ा लोकगीतों मे भरे पड़े हैं जिनका प्रतिनिधित्व उक्त गीत से हो जाता है । संयोग अथवा संभोग श्रृंगार की परिणति का सांकेतिक या यों कहिये लाक्षणिक वर्णन भी लोक-

कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है । गर्भवती नूंह (बहू) के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन करके सास ने नूंह से जो कुछ पूछा तथा उसने सास को जो उत्तर दिया, वह लोक मर्यादा तथा संभोग श्रृंगार की व्यावहारिकता का सूचक है :—

'सस्स पुछदी नूहें गोरीए, तेरें मुहें जरदी आई नीं ।
'माए जेठ महीने हल्दी कुट्टीं, तिसते जरदी आई जी'
'सस्स पुछदी नूहें गोरीए—तेरें अन्दर दिब्बा बलिआ नी'
'माए काले महीनें हनेरिआं रातां तांई दिब्बा बलिआ जी'
'सस्स पुच्छदी नूहें गोरीए, तेरें कुच्छड़ें निआणा खेलै नी'
'माए नदी किनारे नौणा गेई, निआणा रुड़दा आइआ जी'
'माए कुसी मलाहे जो दरद ना आया, मैं चुक्की गलें लगाया जी'

नायिका लज्जावश हर बात पर पर्दा डालती चली जा रही है । स्वाभाविक भी है । लगता है, प्रथम प्रसूता है और लोक मर्यादा का पालन करना जानती है ।

संयोग श्रृंगार की सीमाओं का विच्छेदजन्य अतिक्रमण होते ही वियोग श्रृंगार मुखर होने लगता है । कांगड़ा लोकगीतों में प्रोषित पतिकाओं तथा बाल विवाहिताओं के कथन मर्मान्तिक वियोग-वेदना से अनुस्यूत हैं । पति के बिना संयोग में सुखद लगने वाली सारी वस्तुएं वियोग में दुखदायी प्रतीत होती हैं । विरहिणियों की मनोदशा बदल जाती है । कांगड़ा के वियोगप्रधान गीत नायिकाओं के अश्रुजल से भीगे हैं । उनमें नारी के कोमल हृदय की आतुरता, कातर धड़कन बन कर स्पन्दित हो रही है । नायिकाओं की परवशता तथा विवशता ने उन्हें दयनीय बना दिया है । इन गीतों में वियोग के कोमल से कोमल तथा कठोर से कठोर हृदय-विदारक चित्रण भरे पड़े हैं । कपटी, धोखेबाज तथा स्वार्थी प्रेमियों की बेवफाई पर झूरती तड़पती हुई नायिकायें इन शब्दों में अपना सन्ताप व्यक्त करती हैं :—

'प्रीत न लाइयो कोई कच्चे कनै, सच्चें कच्चेआं कुआरिआं कने,
ब्याही करी हुंदे बेईमान जानी, गल्लां होई बीतियां ।'

वियोग की पीड़ा को झेलती हुई नायिका संयोगजन्य दर्शनों से विरहरूपी फंदे को काटने के लिये तरस कर रह जाती है, पर नौकर है कि आता नहीं । कितनी विवशता है, वह भला नाम कटवा कर क्यों नहीं आ जाता:—

'नांमां कटाई घरां जो आई जा
इक बारी आई असेंगी मिली जायें तू
साड़ा कटी जाए फंवा, तेरा लगदा मंदा ।'

वह पत्र लिखती है । पत्र हाथ से छूट-छूट पड़ता है । पुरानी यादें उसके स्मृति-पटल पर उभर आती हैं, उसकी आंखें भर भर आती हैं—

'गोरी रोई-रोई भरदी अखियां जिंदे
गोरी रोई-रोई गिणदिए घड़ियां जिन्दे ।'

प्रिय का पत्र क्या आ जाता है उसे अमूल्य धन मिल जाता है। वह उसे चूमती चूमती नहीं अघाती। छाती से लगा कर विरहाग्नि को शान्त किया चाहती है । उसकी बडरी अखियान में बड़े बड़े आंसू आ भरते हैं, लुढ़क पड़ने के लिए—

'खत मेरे सज्जणां दा आया ओ,
खत मैं पढ़ावीं सीन्ने कन्नै लांदी,
नैणा भरी-भरी रोंदी ओ ।'

और लोकगीत की इस भावना पर सूर, बिहारी, तथा घनानन्द सरीखे उच्चकोटि के कवियों की नायिकायें न्यौछावर करने योग्य नहीं हैं क्या[1]?

अन्यत्र प्रेम की पाठशाला में छली गई किसी कोमलांगी की पीड़ा अपने ही ढंग की है । उसे प्रेमी शुद्ध स्वार्थी प्रतीत होता है । इस नायिका की स्थिति तो उस जीर्ण शीर्ण कपड़े की तरह है जिसे दर्जी भी सीने का कष्ट नहीं करता । बेचारी उपालम्भ न दे, तो करे क्या?

'टुटिया फुटिया फटा पुराणा कपड़ा
कोई नीं सींदा दरजी ओ,
दिल्लां दा महरम कोई ना मिलिया,
जो मिलिया अलगरजी ओ ।

एक विरह-विदग्धा ऐसी भी है जो प्रिय से पत्र-व्यवहार के लिए लालायित है । वह अपनी वियोगजन्य अभिलाषा को व्यक्त करती हुई कहती है—'दिल रूपी कागज़ के टुकड़े पर कटी ऊंगली रूपी कलम, काजल रूपी स्याही तथा अश्रुरूपी जल से विरह-व्यथा लिखूंगी'—

'दिल दा टुकड़ा मैं कागज बणावां
ऊंगलीआं कट कानी
आखीं दा कज्जला मैं शाही बणावां
हंझूआं दा पानी आं पाणी ।'

---

(1) (क) 'निरखि अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती,
लोचन जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम जू की पाती ॥ (सूर)
(ख) 'कर लै चूमि चढ़ाई सिर उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखाति बांचति धरति समेटि ॥ (बिहारी)
(ग) मित्र के पत्रहि पावत ही उर काम चरित्र की भीर मची है ।
सीस चढ़ावति आंखनि लावति चुंबन की अति चोप रची है ॥
हाय कही न परै हित की गति कौन संवाद अचौनि अची है ।
छाती सौं छुवावत ही घनआनन्द भीजि गई दुति पांति नची है ॥ (घन आनन्द)

यहां रूपक अलंकार की कितनी मार्मिक योजना सहज ही हो गयी है । नायिका की कातर दशा उस मछली के समान नाजुक बनी हुई है जो थोड़े पानी में छटपटा कर मर जाती है । आजीवन विडम्बना है, प्रिय न तो आता ही है और न ही पत्र लिख भेजता है:—

'थोड़े-थोड़े पाणी ओ मछली जो तड़फे,
इआ करी तड़फे नौकरे री नार,
आपू बी नीं आउंदा ओ लिखी बी नीं भेजदा
किआ करी कटणी ओ बालड़ी बरेस ।'

प्रवत्स्य पतिका नायिका की कातर दशा देखिये। प्रिय के चले जाने का समाचार पाने मात्र से उसके देह पर पीलिमा छाने लगी है—

'नौकरा मुसाफ़रा जिन्ने पीड़े घोड़े,
तुसां चले प्रदेस साड़े जिगरे थोड़े,
कीआ नूहें तेरा मैला मैला भेस
किनैं गुणा मैं होई पीलड़ी ।'

विरहिणियों के वियोग को बढ़ाने में प्रकृति भी उद्दीपन का काम करती है —

'ओ दूरे दिआ बासिया हुण घरें आई जा ।
पखेरू ते पँछियां ने कितणे संदेसे भेजे,
बिज्जली दी चमचम हिली गे कलेजे ।'

रावी के प्रवाह की ध्वनि तक नायिका को डरावनी लगती है —

'सांएं-सांएं मत कर रावीए,
मिजो तेरा डर लगदा ।
चम्बे दे गले दिए लड़ीए
मिजो तेरा डर लगदा ।'

विरहिणियों की विरह-वेदना की अश्रु भरी गाथा इन लोकगीतों में भरी पड़ी है ।

कांगड़ा के ऐसे भी लोक गीत हैं जिन में वज्र-हृदय को भी द्रवित कर देने की शक्ति है । जिन्हें सुन कर आंखें नहीं, रोम-रोम रो उठता है । कन्या की विदाई के समय गाये जाने वाले गीत ऐसे ही हृदय-विदारक हैं । रुदन के संगीत में स्वरित इस समय के भावोद्‌गार बड़े मर्मस्पर्शी हैं। आयु का एक चौथाई भाग जिस परिवार में पाला पोसा उसी से बिदा लेती हुई कन्या अपने पिता से पूछती है:—

'साड़ा चिड़ियां दा चम्बा वेस बावल असैं उड़ी ओ जाणा ।
साड़ी लम्मी डुआरी वेख बावल केहड़े वेस जाणा ।'

तेरा चौका भांडा वे, बाबल तेरा कुण करे,
तेरे मैह्लां दे बिच-बिच वे बाबल मेरी अमड़ी रोवे,

और अत्यन्त हृदय-द्रावक गीत है—

'तेरे मैहलां दे अन्दर वे, बाबल मेरियां गुड्डियां रेइयां
तेरियां गुड्डियां खिलावे तेरी भैण, धीए घर जा अप्पणे ।
तेरे मैह्लां दे अन्दर वे बाबल मेरा डोला अड़ेया।
असें इट्टां पुट सुट्टांगे धीए घर जा अप्पणे ।'

अस्तु, कांगड़ा के इन वियोग गीतों में एक दर्द है, एक टीस है । अजीब सी हूक है जो झरने की तरह झरती है निरन्तर । संयोग तथा वियोग शृंगार की मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ साथ इन गीतों में कामदशाओं का भी चित्रण हुआ है, पर ऊहात्मक या हास्यास्पद नहीं ।

करुण रस.—कांगड़ा के मृत्युगीतों में विषाद की गहरी रेखायें चित्रित हैं । विशेषकर वैधव्य का अभिशाप, हृदय विदारक आहों का जनक है । 'मुकाण' (शोक) के समय जो स्यापा किया जाता है अथवा कीरने पाये जाते हैं उनमें मृतक के गुणों का कथन करुण रस की निष्पत्ति कर देता है । करुण-क्रंदन के साथ छातियां पीटने का दृश्य कभी कभार भयानक तथा वीभत्स भी हो जाता है । मृत्यु पर स्त्रियों द्वारा चूड़ियां तोड़ने, सुहागजन्य आभूषणों के खोलने तथा शंख-ध्वनि के उच्चरित होने का कारुणिक चित्रण अधोलिखित गीत में स्पष्ट है —

हाय ! हाय ! ! जी बाबल साड़िया sss
धोया कैंहर पलटिया जी बाबल साड़िया sss
धीआं करदिआं कैंहर पलट जी बाबल साड़िया sss
नूआं करदीआं कैंहर् पलट जी बाबल साड़िया sss
बाहर बंगां दे ढेर, अंदर बंगा दे ढेर 'न बाबल साड़िया, sss
संख बज्जे पंज मुखिया बाबल साड़िया sss
धूपां नाल धुखाइयो बाबल साड़िया sss

वीररस.—शृंगार तथा करुण के साथ-साथ कांगड़ा लोक गीतों में वीर रस की परिकल्पना भी हुई है । ये वीर गीत उन शूरवीरों के व्यक्तित्व तथा चरित्र से सम्बन्धित हैं जिन्होंने अवसर पड़ने पर समाज को अपने अदम्य साहस, शौर्य तथा विशाल हृदय का परिचय दिया है । इन लोकगीतों की पीठिका को स्पष्ट करते हुए हरिकृष्ण मिट्टू ने लिखा है—"हिमाचल प्रदेश में विलीन होने वाली कुछ रियासतों में अनेक बार विद्रोह की आग भड़की । सामन्तों ने राज्यों के विरुद्ध हो कर कई युद्ध किये । कभी अंग्रेजों से लड़ाई हुई तो कभी गोरखों से, कभी राज्यों में आपस में युद्ध हुआ तो कभी कभी प्रजा से । इन युद्धों का कारण राज्य लोलुपता हो अथवा उसके अतिरिक्त कोई और, किन्तु युद्ध हुए अवश्य, जिन्हें यहां का प्राचीन इतिहास भी मानता है । तो इन्हीं छोटी बड़ी घटनाओं को लोकगीतकारों ने छोटे छोटे प्रबन्धों के रूप में बांधा है और गाने वालों ने इन्हें भिन्न भिन्न धुनों में स्वरबद्ध किया है । इन गीतों में 'मदनों', 'कमना', हुक्कू आदि आते हैं[1] ।" कांगड़ा में प्रचलित वीर

1. हिमाचल के लोकगीत : सम्पादक—मिट्टू, नीरज, शर्मा, पृ० 10 ।

लोकगीतों की पीठिका म उक्त युगबोध का प्रभाव होना भी स्वाभाविक है । कांगड़ा के वीर गीतों में अंग्रेजी राज्य के फौजियों का यत्र तत्र वर्णन हुआ है । साथ ही बिलासपुर के राजा विजय चन्द के कर्मचारी भण्डारी साहिब के छोटे भाई 'मोहणा' के भाई की रक्षा के निमित्त फांसी के तख्तों पर झूल जाना वीरता की ऐसी गाथा बन गया कि हिमाचल के जन जन की वाणी पर सहज ही मुखरित हो उठता है—

'फांसी चढ़ी गिया वे लोको फांसी चढ़ी गिया,
भाईए रिआ गलाइया पर फांसी चढ़ी गिया,

कांगड़ा के वीर गीतों में 'धर्मू', 'राम सिंह पठाणिया', 'गूग्गे दी वार', आदि तो विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन गीतों में वीरता का इतिहास अमर है । राजा राम सिंह का वीर रसात्मक शौर्य देखिये—

खाए मरोड़ा फिर रामसिंह चढ़िआ,
हत्थ पकड़ी तलवार, जिहड़ी करदी है मारोमार,
में परखनी हैं फौजां दे नाल,
अकेला पठानिया खूब लड़िया ।

इन गीतों की भाषा में ओजगुण प्रधान है। ये गीत शरीर की रग रग में वीरता का संचार करने में सक्षम हैं ।

हास्य रस.—कांगड़ा के लोक गीतों में विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गालियों में हास्य रस का परिपाक हुआ है । यह हास्य व्यंग्य से तराशा गया है । इस में विशेष चुभन है, चुटकी है । इस हास्य की नियोजना सामाजिक नैतिकता की सृष्टि के लिए की गयी है । अधिक अन्न खाने वाली औरत के लिए अकसर हास्य के परिवेश में यह गाली गाई जाती है :—

'इसा दा ढिड बड़ा चकूणा, इसा जो होर पायो जी,
खांदी घड़िये ते बी दूणा, इसा जो होर पायो जी ।।'

और जब इस से भी तबीयत नहीं भरती तो गाया जाता है —

'पंजां पां दिआं पंज पकांदी, ढाइयां सेरां दा इक्क ।
जुआनी पिट्टा पंजां ई खाई गिआ, मिजो रेई गई इक्क "

'हास्य रस' के उदाहरण में 'जीजा साली' का सम्वाद सुनिये :—

साली : **जीजा ! उठी करी पैंटा जो झाड़, पैंटा च भूण्ड बड़ेआ ।**
इक्क नी बड़ेआ दो नी बड़े, बड़े सत्त, पंज चार ।।'

जीजा : **रौला न पा अड़िये, ऐ माऊ मेरीया वे यार ।**
कुल सत्त, पंज, चार, होइया तिसा ने गूढ़ा प्यार ।।

सालो : 'जीजा जुड़ी गिया मंजोले नाल, मंजोलू तेरा क्या लगदा ?
मेरीया जणदीआ दा यार मेरा प्यारा पियो लगदा ।'

हास्य रस की यह परिकल्पना स्वस्थ है। यह किसी प्रकार की वैमनस्य भावना से सिंचित नहीं है ।

कांगड़ा के ये लोकगीत रस (आनन्द) का अक्षुण्ण स्रोत हैं । इन लोक गीतों के रस परिपाक के महत्व का प्रतिपादन करते हुए हरि कृष्ण मिट्टू के शब्दों में पाठक सहज स्वीकार कर लेता है कि—"हिमाचल के गीतों की कल्पना ऊंचे ऊंचे देवदार के वृक्षों से भी ऊंची उठकर हिमाच्छादित गगनचुम्बी चोटियों से टकराती हैं । यहां के गीतों में 'रस' पहाड़ के दामन में छिटके हुए रंगारंग, मनमोहक फूलों की तरह प्राकृतिक होता है । यहां के गीतों में स्वर, जल प्रपातों और नदियों की कलकल तथा सुखद् समीर से मिलते हैं जो सौभाग्य प्रकृति ने तुष्ट होकर इस प्रदेश को प्रदान किया है । इन गीतों में प्रयुक्त शब्दावलि, स्वर-लहरी और शैली सादा है, सीधी है और मासूम है । इन गीतों में जिन्दगी की आवाज और चोट खाये दिलों की पुकार है ।"[1]

(ग) **शब्द योजना**.—इन लोक गीतों का शब्द-भण्डार भी समृद्ध है । प्रायः तद्भव तथा देशज शब्दों की बहुलता है । तद्भव शब्दों को मुखसुख के अनुरूप रूप दिया गया है । इन गीतों में अरबी-फारसी के शब्दों की प्रधानता है । कतिपय शब्द इस प्रकार हैं—महल, जहर, दुनियां, इनाम, बादशाह, मर्द, हजार, वजीर, शहर, ख्याल, जेब, तमाशा, बहादुर, चिलम, साहब, तलवार, गम, बेईमान, खानदान, सलवार आदि । लोक कवियों ने अंग्रेजों के प्रभाव से अंग्रेजी के शब्दों को लोक चेतना में ढाल कर अपनी भाषा में पचा लिया है, यथा, मोटर, सर्टीफिकेट, डागटर, मिनट, करनैल, जरनैल आदि ।

इन लोक-गीतों की शब्द-योजना की प्रमुख विशेषता है—पर्याप्त मात्रा में 'ड़ा' का प्रयोग । यह प्रयोग कथ्य में अजीब किस्म के माधुर्य तथा प्रेम की टीस को चित्रित करने में समर्थ है । इस शब्द का हृदय से निकलना ही माधुर्य एवं प्रेम का व्यंजक है । कुछ शब्द देखिये—कान्हड़ू, कोठड़ी, पलंगड़ू दंदड़, दिलड़ू, सहेलड़ियां, गदेटड़ी, हत्थड़ू, ऊच्चड़े, छोटड़े, बड्डे, बगीचड़ी, मामड़े, नानकड़े, भेजड़े, धल्लड़े, रुठड़े, सुत्तड़ी, आदि ।

(घ) **प्रतीक योजना**.—डा0 नगेन्द्र के शब्दों में 'प्रतीक एक प्रकार के रूढ़ उपमान का ही नाम है, जब उपमान स्वतन्त्र न रह कर पदार्थ-विशेष के लिये रूढ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है । इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में उपमान होता है, धीरे धीरे उसका बिम्ब रूप या चित्र रूप संचरणशीलन रह कर स्थिर या अचल हो जाता है, अतः प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है जिसके आयाम सिमिट कर अपने भीतर बन्द हो जाते हैं[2] ।" कांगड़ा के लोक गीतों में ऐसे रूढ़ उपमानों की योजना हुई है जो मूलतः रूढ़ हो गये हैं । यथा:—

(1) थोड़ी-थोड़ी बुरी राजा छिल्लुए भिडुए दी लगदी,
गहिये वें नाएं बग्गी जांदी छुरी ओ ।'
(2) 'बिज्ज तां हुन्दी काली कुलजी, कुड़ीए इंदर देइए
नाग तां हुन्दा कुले दा परोहत ।

1. हिमाचल के लोकगीत सम्पादक : मिट्टू, नीरज, शर्मा, प0 9 ।
2. आस्था के चरण : डा0 नगेन्द्र : पृ 136 ।

(4) 'कच्चीआं कलियां नां रोल, मूरखा माहणूआ
पक्कण वे दिन चार, रसे भरीआं डालियां ।'
(4) 'कच्ची कली तोड़ी गिया, बिच बन्ने सट्टी गिया
पापा ते ना डरिया जी बेईमान लोका ओ ।'
(5) 'डाडे दिए बेडिये नी, सौकणी नी मेरीये'
(6) 'गंगा सरस्वती मेरी माई तीरथ जे मेरे बापू जी ।
चंदा तां सूरज मेरे बीरे. भैणां नूं मिलणा जरूर"

यहां 'विरह' के लिए 'छुरी', 'बिज्ज' (वज्रपात) के लिए 'कुलज', 'नाग' के लिए 'पुरोहित', छोटी, कच्ची उम्र की 'नायिका' के लिए 'कच्ची कली', 'सौकण' के लिए बेड़ी (नौका), 'मां' के लिए गंगा सरस्वती, 'पिता' के लिए तीर्थ, तथा भाई के लिए चांद और सूरज प्रतीक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं । इन अप्रस्तुतों अथवा प्रतीकों की सहायता से लोक कवि की बिम्ब योजना भी अनूठी बन पड़ी है । कांगड़ा के मांगलिक संस्कारों में राम, कृष्ण, नन्द, वसुदेव, विष्णु, ब्रह्मा, नारद, कंस, रावण, सीता, राधा, रुकमणी, यशोदा, देवकी आदि पौराणिक प्रतीकों का बहुत तथा सार्थक प्रयोग हुआ है ।

(ङ) **छन्द तथा संगीत**.—काव्य और छन्द का सहज स्वाभाविक तथा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । क्योंकि काव्य गीतिमय विचार है, इसलिए उसका छन्दोबद्ध होना अनिवार्य है । डा0 विश्वम्भर नाथ के शब्दों में[1]—'कविता बहुतांश में कवि के भावसिक्त तरल शब्दों का संगीत की लय में छन्द का मादक प्रवाह है"। स्पष्ट है कि काव्य का मूल स्वर संगीत है और संगीत का वाहन छन्द है परन्तु छन्द की इन सीमाओं में शिष्ट नागर काव्य भले ही बन्ध जाये, लोकगीत को बांधने की सामर्थ्य छन्द में नहीं है । लोक गीत छन्द के बन्धन से मुक्त होते हैं । पं0 राम नरेश त्रिपाठी के शब्दों में—"इन में छन्द नहीं, केवल लय है ।"[2] लोकगीत की भावभूमि स्वच्छन्द है । लोक कवि गीत रचते समय छन्द-शास्त्र का पण्डित न होकर हृदयगत भावधारा के अवतरित प्रवाह को लयबद्ध गति देता है । यही कारण है कि उसकी कविता तुकान्त होने की भी परवाह नहीं करती । तीव्र रागात्मक अनुभूति से उद्वेलित भावनाजगत स्वतः लयात्मक होता जाता है । कांगड़ा के लोकगीत भी इस कथन का अपवाद नहीं हैं । इनकी झटपटरी छन्दात्मक निबन्धना में लय और स्वर का अपूर्व अभिसार है । शब्द योजना के नादात्मक अनुसरण से जिस नाद-सौन्दर्य का जन्म होता है, वही नाद-सौन्दर्य इन गीतों के छन्दों का प्राण बन गया है । इसलिए लोक धुनें इन गीतों की आत्मा बन गयी है जो श्रोता को सहज ही साधारणीकृत कर लेती हैं । कांगड़ा के लोक गीतों में यत्र तत्र चौपाई, दोहा, बरवै तथा कवित का सामीप्य देखा जा सकता है पर वह भी अटपटा । कवियों का ध्यान भावव्यंजना पर अधिक टिका है । भावों के अनुरूप ही छन्दों का गठन है । ललित भावों का छन्द ललित तथा कठोर भावों का छन्द थोड़ा भारी है । छन्द की अपेक्षा लय तथा तुक की गठन पर अधिक ध्यान दिया गया है । यही कारण है कि इन गीतों में श्रुति-माधुर्य की प्रधानता है । तुक की गठन का माधुर्य द्रष्टव्य है—

(ङ) **छन्द तथा संगीत—**

'कूजां जाई रहीआं नावौण, अगें ठण्डे बांके नौण ।
इक घुट लाई लै ओ देरा, देरा ओ मेरीआ लोभिआ ।।

(1) रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला : डा0 विश्वम्भर नाथ भट्ट, पृ0 226 ।
(2) कविता कौमुदी (5) पं0 राम नरेश त्रिपाठी, ग्राम-गीत : पृ0 1 ।

कूंजां जाई रहीग्रां कलेसर, भाबो तोले दी मंगदी बेसर
तुरत घड़ाई वे ओ देरा, देरा ओ मेरीआ लोभिआ ॥
कूजां जाई रहीग्रां हुण पत्तणं, मेरा दिल नेफ लगदा कत्तणं,
चरखा भन्न सटिया देरा, देरा ओ मेरीआ लोभिआ ॥
कूंजां जाई रहीग्रां सुकेत, इक्क कुच्छड़ दुग्गा पेट,
त्रिजा खेले चिक्का रेत, देरा ओ मेरीआ लोभिआ ॥
कूंजां जाई रहीआं हुण मंडोआ, चिट्टे चौल रिज्जदें हडिआ,
दुध भत खाई लं ओ देरा, देरा ओ मेरीआ लोभिआ ॥
कूजां जाई रहींआं बरोट, चिट्टे दन्द गुलाबी होठ,
बीडीआं लाई आओ देरा, देरा ओ मेरीआ लोभिआ ॥

उक्त लोक गीत के एक चरण में कवि ने तुक मिलाया है तो दूसरे में 'देरा ओ मेरीआ लोभिआ', की आवृत्ति की है। इस गीत की लय रबड़ की तरह खिच कर पर्वत की गूंज बन जाती है। समवेत स्वर लहरियां लय को सरल तथा रसीला बना देती हैं। लय से लोक-गायक लोक गीत को प्राणवान बना देते हैं। कांगड़ा के लोक गीत हिमाचली लोक काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस लिए श्री हरि कृष्ण मिट्टू के ये शब्द इन गीतों के संगीत और छन्द के सम्बन्ध में बड़े सटीक प्रतीत होते हैं—"इनमें कुछ गीत तो मुक्तक के रूप में हैं। जिनका एक पद दूसरे पद से विशेष सम्बन्धित नहीं होता। यदि सम्बन्ध है भी तो केवल भावनाओं का, घटनाओं का नहीं। यह हिन्दी काव्य में 'दोहे' और 'उर्दू' में 'रूबाई' के समान अर्थ की दृष्टि से अपने में ही परिपूर्ण हैं। इन मुक्त छन्दों को गांव के युवक और युवतियां कंठस्थ करके निर्जन बन में, एक दूसरे से बहुत दूर, ऊंचे टीलों पर बैठ कर प्रश्न उत्तर के रूप में, पहाड़ों की हरित घाटियों में गूंजने वाली आकर्षक स्वर-लहरी में प्रस्तुत करते हैं। राही चलते चलते ठिठक जाता है, हवा में तैरते उन मादक स्वरों को सुन कर वह कठिन पहाड़ी राह की सारी थकान भूल जाता है। कितने मधुर और कर्ण-प्रिय होते हैं ये गीत? यह वही जानता है जिने सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो। वास्तव में ये मुक्तक-गीत हिमाचल के लोक-कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना हैं।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कांगड़ा के लोक गीतों में अनूठी कवित्व शक्ति है। हिन्दी के मूर्धन्य कवियों की कल्पनाएं तथा उपमाएं कांगड़ा के लोककवियों से प्रभावित हैं। भावाभिव्यक्ति में जितनी भी प्रभावोत्पादकता है, जितना भी चमत्कार है, वह सब है अप्रयत्नकृत। भाव भावित है, बुद्धिबोधित नहीं। लोक गीतों में मानों स्वयं लोक कवि ढल कर वह गया है। इन गीतों के झरनों से झरने वाला आनन्दरस हृदय की वस्तु है, बुद्धि की नहीं। ऐसा लगता है जैसे अनुभूतियां लोककवि की प्रतिभा की गोद में विलस रही हैं, क्रीड़ा कर रही हैं। अन्तर्गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति के लिए इन गीतों के उपमान, अप्रस्तुत अलंकार, शब्द, प्रतीक, लय, तुक आदि सब रसवत हो गये हैं। पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'लोकगीत की एक एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ सौ मुग्धाएं, खण्डिताएं और धीराएं न्यौछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं, और अपने आप में परिपूर्ण हैं।" ऐसी नायिकाओं से सम्बन्धित लोक-गीतों को शास्त्र की कसौटी पर भला कैसे कसा जा सकता है? अस्तु।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री राम कालेज
आफ कामर्स, दिल्ली–7

(1) हिमाचल के लोक गीत: सम्पा: मिट्टू, नीरज, शर्मा: पृ0 11।

संदर्भ ग्रन्थ :—

(1) हिमाचल के लोक गीत: प्रधान सम्पादक: हरि कृष्ण मिट्टू, प्र0 लोक सम्पर्क विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-4, स0 मार्च, 1960 ई0।
(2) कांगड़ा: कला, देश और गीत: महेन्द्र सिंह रन्धावा, प्र0-साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, सं01970 ई0।
(3) लोक साहित्य की भूमिका: डा0 कृष्ण देव उपाध्याय, प्र0 साहित्य भवन, इलाहाबाद, स0 1957 ई0।
(4) मध्य युगीन हिन्दी—साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन: डा0 सत्येन्द्र, प्र0 विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, स0 1960।
(5) धन-आनन्द के काव्य में अप्रस्तुत योजना: मनोहर लाल, प्र0 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सं0 1974।
(6) काव्य में अप्रस्तुत योजना: पं0 राम दहिन मिश्र, प0 ग्रंथ माला कार्यालय, पटना, स0 2005।
(7) आस्था के चरण: डा0 नगेन्द्र, प्र0 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, स0 1962, :।
(8) कविता-कौमुदी भाग 5, राम नरेश त्रिपाठी, प्र0 हिन्दी मन्दिर प्रयाग, सं0 1986।
(9) हिमाचल के आंचल में: डा0 ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श', किताब घर, गांधी नगर, दिल्ली, सं0 1974।
(10) रस तरंगिणी: भानुदत्त, प्र0 श्री वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रक यंत्रालय, बम्बई, स0 1971।
(11) रत्नाकर: उनकी प्रतिभा और कला: डा0 विश्वम्भर नाथ भट्ट, प्र0 दिल्ली पुस्तक सदन दिल्ली, दिल्ली, स0 1957।

भारतीय चित्र कला:

बाघ भित्तिचित्र और कांगड़ा कलम के संदर्भ में

—दलजीत खरे

प्रकृति के रचनात्मक व ध्वंसात्मक रूपों से प्रभावित तथा विस्मित आदिमानव के लिए यह स्वाभाविक था कि उसकी विभिन्न शक्तियों को वह जादू-टोने के माध्यम से तुष्ट करने का प्रयास करता । कालान्तर में उसके इस प्रयास ने उन्हें देव, देवियों का रूप दे डाला जिससे उसे भय, विश्वास तथा प्रेरणा मिलती रही । इस प्रकार उसने असाधारण, निस्सीम, तथा अपरिचित प्रकृति को इन सांकेतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से साधारण सीमित तथा परिचित रूप में परिवर्तित कर दिया । आदि मानव के निरन्तर प्रयास से अमूर्त को मूर्तरूप मिलना एक मनौवैज्ञानिक तथ्य ही नहीं, अपितु कला और ज्ञान का स्रोत भी बन गया ।

इसमें संदेह नहीं कि कला और विज्ञान अपनी उच्चतम परिधि में दर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं होते, किन्तु जन साधारण के लिए इन दोनों की विभिन्न शाखाओं का मानांकित होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रत्येक शाखा का विशिष्टीकरण, जो स्वयं में अत्यधिक सीमित होने के कारण अपने मूल से परे होने का आभास देता है । विशिष्टीकरण की उपादेयता इसी में है कि ज्ञान और कला, जिसका सर्वश्रेष्ठ अंग ललित कला[1] है, में भी समन्वय बना रहे, ठीक उसी प्रकार जैसे व्यक्ति और समाज में ।

प्राचीन भारत में यद्यपि कला भारतीय जीवन में व्याप्त हो चुकी थीं, तथापि प्रतिरूपण तथा मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला की सहजता ने सामान्य व्यक्ति को अत्यधिक प्रभावित कर लिया था, जिसके प्रमाण समकालीन साहित्य में विद्यमान हैं । विष्णु धर्मान्तर में चित्रसत्र चित्रकला का सब से प्राचीनतम व आदर्श मूल पाठ है। काम सूत्र के अनुसार अनेक कलाओं के साथ चित्रकला में भी परिष्कृत होना एक भद्र पुरुष तथा आदर्श नागरिक का विशेष लक्षण माना गया है ।

भारतीय कला मौलिक रूप से एक ऐसी क्रमबद्ध कला है, जो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा दैवी कार्यों को समर्पित है । अधिकृत ग्रंथों की भी यही घोषणा है कि स्वर्ग की प्राप्ति मनुष्य की प्रतिकृति के निर्माण से नही प्रत्युत दैवी प्रतिमाओं के निर्माण से होती है । जो किसी व्यक्ति-विशेष की कल्पना को सुखद हो वह सुन्दर नहीं, अपितु जो धर्म विधानों के अनुरूप हो, केवल वही भक्त की दृष्टि से सुन्दर है । कलाकार की इस समर्पण भावना ने कला के ज्ञान में ओत प्रोत हो कर अजन्ता, बाघ, सिगिरिया (श्री लंका) आदि जैसे स्थानों में पनप कर मुगल कालीन परिवेष में प्रवेश किया जहां से उसे कांगड़ा में प्रस्फुटित होने का ही नहीं ब्राह्मणवादी विषयों को सहस्त्रों वर्ष उपरान्त भी पुन: प्रतिष्ठापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

---

(1) नारायण को कला की उत्पत्ति का श्रेय दिया गया है । इन्होंने अतीव सुन्दरी अप्सरा उर्वशी को अपनी जंघा पर चित्रांकित कर उत्पन्न किया था । इसकी शिक्षा विश्वकर्मा को मिली तथा विश्वकर्मा ने समग्र मूल विषय का अनुकरण करके उसकी सफलतापूर्वक व्याख्या की ।

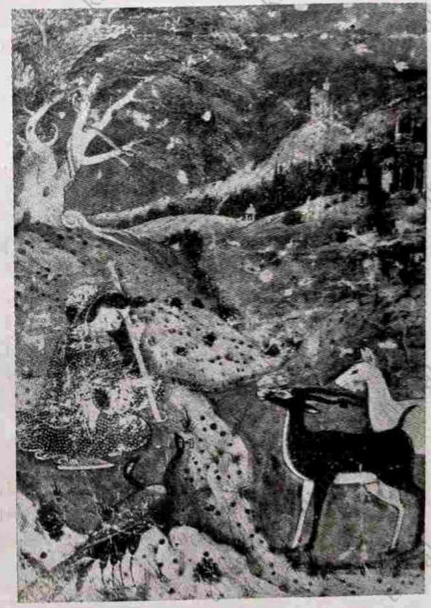

राग तोड़ी

Scanned with CamScanner

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्

किन्तु, जैसा पहले कहा गया है, चित्रकला का उद्भव प्रागैतिहासिक काल में हुआ जिसके प्रमाण फ्रांस, स्पेन, इटली आदि के अतिरिक्त मिर्जापुर (यू0पी0) पंचमढ़ी, होशंगाबाद, भीमबेठका (रायसेन), अहमदपुर (विदिशा) आदि के गुफा चित्रों में दर्शनीय हैं। इन में चित्रित प्रारम्भिक आकृतियों में मनुष्य की उस जादुई आस्था का संकेत है, जिसने आदि मानव को आत्म विश्वास तथा सफलता प्रदान की। स्वयं से अधिक शक्तिशाली व विशालकाय पशुओं के हनन की असमर्थता ने मनुष्य के अचेतन मन में इनके प्रति भय की भावना ने जन्म दिया तो साथ ही चेतन मन में उन पर विजय प्राप्ति के सांकेतिक उपाय भी सुझाये। मनुष्य शरीर व पशु आकृति वाले चित्र इन्हीं सांकेतिक कला-पूर्ण उपायों के प्रतिफल हैं, जो जादुई पूजा-पद्धति के अंग तो थे ही, मानव जाति के आगामी धर्म की पूर्वकल्पना भी बन गये।

सिन्धुघाटी सभ्यता के उत्खनन से उपलब्ध चित्रित मृण्भाण्ड, जो नवीन क्षितिज के ध्रुव तारे के सदृश्य हैं, चित्रकला की एक अपूर्व व सम्पूर्ण वीथि है। यदि उन पर चित्रित वृक्ष तथा पशु आकृतियां प्रकृति-पूजा के द्योतक हैं तो एक कटोरे पर मछली के एक जोड़े को देखकर वास्तविकता का भान होता है। यही नहीं, एक सांड की आकृति और उसकी आंखों में संचित रहस्यवाद ने इस चित्रकला को अमर कर दिया। इन चित्रित मृण्भाण्डों में मनुष्य की कल्पना और प्राकृतिक भावनाओं की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति है।

वैदिक काल में चित्रकला को महत्व दिया जाता था, इसके अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। अभी हाल में एक प्राचीन व दुर्लभ जापानी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जो भारतीय परम्पराओं पर आधारित है। इसमें वैदिक ऋषियों के क्रमबद्ध चित्र चित्रित हैं, जिससे यह विदित होता है कि वैदिक कलाकार ऋषि मुनियों के चित्र बनाने को कितने लालायित रहते थे।

इसी प्रकार जैनधर्म के बहुत से सूत्र भी चित्रित पाये जाते हैं। कुमार स्वामी ने जैन "कल्प सूत्र" में चित्रित श्री सूर्योदय" को वैदिक लघुचित्र (Miniature Painting) की संज्ञा दी है। गुप्त काल में लघुचित्र पत्थरों में ढलकर हमारे राष्ट्र की अनुपम और अमूल्य निधि बन गये।

अजन्ता के भित्ति-चित्र ई0पू0 दूसरी शताब्दी से ई0 सन् की छटी शताब्दी तक के अनुमाने गये हैं। दिव्यावदान में यह उल्लेख है कि महात्मा बुद्ध ने स्वयं भी बौद्ध-बिहारो में किस प्रकार के चित्र बनाये जायें, इसके संकेत दिये थे। यहां तक कहा गया है कि मागध के राजा बिम्बिसार ने महात्मा बुद्ध का उनके ही जीवन काल में प्रथम चित्र बनवाया था[1]।

उस समय चित्र-कला के चार प्रमुख भागों को मान्यता प्राप्त थी, प्रथम, सत्य अथवा सात्विक, (आध्यात्मिक महत्व के), द्वितीय, वैनिका अथवा गीतात्मक, तृतीय, नागर अथवा नगरीय चित्र (शृंगारिकता तथा कामुकता का बाहुल्य), तथा चतुर्थ, मिश्रित अथवा मिले जुले कथानक वाले।

महात्मा बुद्ध का भिक्षुओं को बिम्बिसार की राजकीय कला-वीथि न देखने के आदेश का उद्देश्य यही था कि वे शृंगारिक प्रदर्शनों से दूर रहें। बौद्ध-बिहारों में सात्विकता-प्रधान चित्रों का चित्रण आध्यात्मिक ज्ञान

1. इसी प्रकार का वर्णन जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के सम्बन्ध में जैन ग्रंथों में मिलता है। महात्मा बुद्ध की प्रतिमा के भी साहित्यिक प्रमाण हैं।

वर्द्धन हेतु था । अजंता तथा बाघ गुफाओं के भित्ति चित्रों में इन्हीं सात्विक विचारों का समावेश है, जिनमें चित्रकला अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई है। ई०स० की चौथी—पांचवी शताब्दी की बाघ गुफाओं के चित्र स्वयं में पूर्ण हैं।

सर्वत्र और सदैव स्वतः ही मनुष्य ने अभिव्यक्ति के धार्मिक रूपों को विकसित किया । इसी विकासक्रम में बौद्ध कला ने क्रियात्मक रूप धारण किया, जिसका मूल उद्देश्य निर्लिप्त अथवा वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यबोध का प्रस्तुतीकरण ही नहीं, वरन आराधना, निष्ठा, आस्था एवं विश्वास का प्रतिपादन है ।

इन गुफा चित्रों की विशेषता है—समूहीकरण । उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध को उनकी महानता अथवा उत्कृष्टता के बावजूद चित्र समूह में रखा गया है, चाहे ऐसा प्रदर्शन पृथ्वी से सम्बन्धित हो या आकाश से । हीनयान में जहां वे एक शिक्षक हैं और उनके शब्द एक प्रणाली, वहां सामान्यतया वे समूह के केन्द्र हैं तथा उत्तर कालीन महायान में सत्यता एवं पूर्णता की अभिव्यक्ति मात्र रहते हुए वे मानवीय अथवा दैवी भक्त मण्डली के केन्द्र बिन्दु हैं । हिन्दू धर्म के देवताओं तथा नरेशों की भांति उनके अपने परिवार देवताओं दृश्य प्रायः केवल सारि-पुत्र मोद्गलायन अथवा कश्यप तथा आनन्द सेवार्थ प्रस्तुत हैं ।

बाघ के भित्तिचित्रों में फूल, पक्षी व पशुओं का चित्रण विशेष महत्वपूर्ण है । कमल पुष्प, मूर्ति कला एवं चित्रकला दोनों में ही लोकप्रिय था, क्योंकि यह पवित्रता के साथ साथ शुद्धता एवं सादगी का भी प्रतीक है । पक्षियों में हंस तथा बतख श्रेष्ठ समझे जाते थे क्योंकि वे आदि रूप में मानसरोवर के निवासी हैं एवं शुद्धि व बुद्धि के प्रतीक हैं । पशुओं में सब से प्रभावशाली हाथी है तथा शाकाहारी होते हुए भी सब से अधिक हृष्ट-पुष्ट है। हाथी वैभव, ऐश्वर्य, प्रतिभा और भद्रता का प्रतीक माना जाता है । महात्मा बुद्ध के जन्म से ही हाथी उनके जीवन से सम्बद्ध हो गया[1] । इसी लिये बौद्ध-धर्म में हाथी को बुद्ध की उपस्थिति का प्रतीक मान लिया गया ।

बाघ गुफाओं का सर्वप्रसिद्ध चित्र है—पद्मपाणि बुद्ध का आभूषणों से अलंकृत व पुष्पों से सुसज्जित शरीर जो बहुत ही शोभायमान है । इसमें मुकुलित पलकों ने मुख की सौम्यता को द्विगुणित कर दिया है ।

एक अन्य गुफा में (जिसे पूजा-गृह के समान प्रयुक्त किया जाता होगा) मनोहर युवतियों के चित्र हैं । बांई ओर की युवती ने मोहक पुष्पों से शीर्ष–शृंगार किया है तथा कानों में कुण्डल व बाजू में भुजबन्द भी सुशोभित हैं । इसकी पृष्ठ भूमि में श्वेत फूल दर्शित थे ।

गुफा नं० 7 के एक दृश्य में दो युवतियां राज भवन के खुले मण्डप में बैठी हैं—सम्भवतः एक रानी या राजकुमारी है और दूसरी उसकी सेविका है । दोनों स्त्रियां समवयस्क हैं । ऐसा लगता है जैसे रानी ने सेविका का हाथ देखने के बहाने उसके प्रेम–सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन कर दिया है । बात को गम्भीरता देने के लिये वह स्वयं भी बहुत शान्त व गम्भीर हो गई। लज्जावश सेविका ने अपने दाहिने हाथ से मुंह ढक लिया है ।

कुछ भी हो, कामोत्तेजक रानी (राजकुमारी) का चित्र शीर्ष से कटि तक पूर्णतः विभूषित है । एक पतली, किन्तु लम्बी कड़ी ग्रीवा से लटकती हुई स्तनों के मध्य से नाभि तक पहुंचती है । अनेक लड़ियों का

(1) महात्मा बुद्ध की माता ने उनके जन्म से पूर्व स्वप्न में एक सफेद हाथी देखा था । राज-ऋषियों का कहना था कि राजा शुद्धोधन के घर या तो चक्रवर्ती सम्राट् पैदा होगा या महान सन्त ।

फलकहार[1] उसके उन्नत स्तनों पर स्थित है । उपरत्नों[2] की एकावलि जिसके मध्य में नायिका बनी है, ग्रीवा के निकट है । छत पर कपोतों के दो जोड़ों के अवशेष भी हैं । इस दृश्य में चित्रित रानी की यह आकृति एक आदर्श नारी सौन्दर्य[3] के स्तर की है ।

एक अन्य चित्र में दो युग्म लगभग एक दूसरे के सम्मुख बैठे, किसी धार्मिक व्याख्या में तल्लीन हैं । सभी लोग गद्दियों पर पधारे हैं और धारीदार अन्तरीय पहने हैं । प्रतिष्ठित शिरोवस्त्र से स्पष्ट है कि बांई ओर का युग्म दहने ओर वाले युग्म से उच्च स्तर का है । इन में जिसके शीर्ष पर दीर्घ व रत्नजड़ित मुकुट है वह सम्भवतः राजा के साथ उस की रानी बैठी है । शिवराम मूर्ति ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन पेन्टिंग' में इस मुख्य विभूति को इन्द्र कहा है ।

दूसरे समूह में पांच नारियों का चित्रण है । मध्यस्थ महिला के हाथ में वीणा के अवशेष देखे जा सकते हैं—सभी रमणियों ने चुस्त चोलियां पहन रखी हैं । जो कि विभिन्न रंगों की हैं । बाल-विन्यास सभी का एक समान है । कानों में कुण्डल तथा कुछ चित्रों में जड़ाऊ व मोतियों के कण्ठहार भी हैं। एक स्त्री के शीर्ष पर धवल बिन्दुओं का एक किरीट है तथा उसके बाल एक रिबन या दुपट्टे से बन्धे हैं:—

गुफा नं० 4 का सब से मोहक दृश्य है—रंग महल। इसमें चित्रित सुन्दर, अर्धनग्न नर्तकियां भारतीय राज दरबार में कोई विशेष नृत्य करती हुई प्रतीत हो रही हैं । शिव राम मूर्ति ने इसे हल्लिसलारस नामक लोकनृत्य बतलाया है । इस में नर्तक एक चक्र बनाकर नृत्य करते हैं तथा करतालों से लय व पग ध्वनि मिलाते हैं । इन युवितियों के केश विन्यास तथा रंग–बिरंगे वस्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन में लम्बी बाहों वाली तथा फूल कढ़ी हुई कमीजें भी हैं । इन युवतियों में एक मृदंग बजा रही है। मृदंग बजाने वाली के नग्न शरीर पर मृदंग लटकाने वाली डोरियां स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं ।

इस सम्पूर्ण दृश्य का समग्र प्रभाव अत्यन्त हृदयग्राही है । विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शित यौवनपूर्ण नर्तकियां, उनके वस्त्र-विन्यास, अनेक प्रकार के बाघ तथा राज दरबार की पृष्ठ भूमि अतीत के उस वैभव के प्रतीक हैं, जिनमें कला की प्रगति अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच रही थी ।

(1) कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के हारों का निरूपण किया है, जिनमें शुद्ध हार, अर्धमाणवक, फलकहार इत्यादि हैं ।

(2) साहित्य, मूर्ति तथा चित्रकला में वर्णित व दर्शित अलंकारों के प्रतिरूप समकालीन उत्खनन सामग्री से पकी मिट्टी अथवा उपरत्नों के बने मनकों में मिलते हैं ।

(3) तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षमा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणी भारादल संगमना स्तोक नम्रा स्तनाभ्यां
या तत्रस्याद्यवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥
(मेघदूत) ।

छरहरी, तरुण, मनोहर दन्तावलि व बिम्ब फल के समान लाल अधर, क्षीण कटि, भयभीत मृगी सदृश नयन, गहरी नाभि, नितम्ब भार से मन्द गति, उन्नत स्तनों से किंचित झुकी हुई कामिनी स्रष्टा की प्रथम व सर्वोच्च कृति है ।

Scanned with CamScanner

एक अन्य दृश्य में केले के वृक्ष की छाया में पलथी मारे भगवान बुद्ध बैठे हैं, उनके समीप बैठा शिष्य उनके धर्म-सिद्धान्त प्रतिपादन को ध्यान से सुन रहा है ।

बाघ की कला में अजन्ता के समान केवल धार्मिक विषय ही नहीं हैं, वरन् यहां पर मानवोचित भावों के चित्रण में वेगपूर्ण प्रवाह भी है । यहां पर किसी प्रकार के अहंभाव अथवा नगण्यता का प्रदर्शन नहीं है, वरन् हर्षोल्लास के मध्य में आत्म-संयम का दिग्दर्शन है तथा सौन्दर्यबोधी तत्व, जो अजन्ता में प्रच्छन्न है, यहां की कला में स्पष्ट और विस्तृत है । इसकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तिगत आत्मीयता होते हुए भी यह व्यक्तित्व के दोष से मुक्त है ।

यह बाघ कलाकार ही की विशेषता थी कि उसने, प्रगाढ़ता, सुन्दरता, आश्चर्य मिश्रित, अनुरागपूर्ण मनोभावों को एक साथ चित्रित किया । ऐसा प्रतीत होता है जैसे कलाकार आध्यात्मिक भावों और सांसारिक वास्तविकता में सामंजस्य जोड़ना चाहता हो ।

यद्यपि ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सल्तनत काल में चित्रकला के विकास के लिये सुल्तानों ने कोई प्रयास किया हो तथापि देवलरानी और खिद्रखां की प्रेम कहानी का चित्रण ईरानी— मध्य एशियाई परम्पराओं से प्रभावित मध्य-युगीन भारतीय कला को प्रदर्शित करता है । रुचिपूर्ण, साहित्यिक तथा कला प्रेमी मुगल सम्राटों के आते ही भारतीय चित्रकला ने एक नई करवट ली । सन् 1526 ई० में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर मुगल साम्राज्य की नींव रखी । बाबर के स्वयं साहित्यिक प्रकृति के होने का प्रमाण है—"बाबर नामा" जिस में उसने भारतीय मैदानों, पहाड़ी संगीत और कला में नया जीवन देखा । इसी भावना को हुमायुं से लेकर शाहजहां तक बढ़ते हुये देखा जा सकता है । राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में रखे 'बाबर नामा' के दो बड़े चित्र इसकी पुष्टि करते हैं, जिनमें अभी भी विशाल रूप है । जहांगीर, (जो स्वयं एक चित्रकार था) ने चित्रकला को बहुत बढ़ावा दिया—उसके समय के दो प्रसिद्ध चित्र हैं–जहांगीर का दरबार एवं जहांगीर द्वारा शेर का शिकार । इस समय की चित्रकला की महत्वपूर्ण देन थी—राजस्थानी एवं मुगल कला का संगम । ऐसा प्रतीत होता है कि शनैः शनैः चित्रकला की विशालता अब संकुचित होकर या तो लालित्यपूर्ण शृंगार की ओट ले रही थी अथवा धार्मिक आवरण में कृष्ण सम्बन्धी विषयों में श्रद्धा के पुष्प अर्पित करने में तन्मय हो रही थी । अन्तिम मुगल सम्राटों ने अपनी रूढ़िवादिता के कारण चित्रकला को महत्व नहीं दिया ।

नादिर शाह के भारत आक्रमण से कलाकारों को गहरा धक्का लगा—कतिपय कलाकार अपनी कला के लिए शरण ढूंढते ढूंढते हिमालय की विशाल बाहों में आ गये । कुछ कलाकारों को गुलेर के पहाड़ी राज्यों में राजा दिलीप सिंह (1695–1744), इन के पुत्र गोवर्धन चन्द और फिर पौत्र प्रकाश चन्द्र ने आश्रय ही नहीं दिया वरन् कला को भी प्रश्रय दिया और यहीं से कांगड़ा चित्रकला का जन्म हुआ । 1786 में राजा संसार चन्द ने कांगड़ा किला विजय किया जो कि कांगड़ा घाटी में शक्ति का प्रतीक माना जाता था । राजा संसार चन्द के राज्य काल में कांगड़ा कलम ने बहुत उन्नति की और वह पराकाष्ठा की सीमाओं को लांघ भारतीय कला की एक अमूल्य निधि बन गई । कांगड़ा कलम के अधिकांश चित्र कृष्ण लीला, विष्णु के दशावतार और अन्य पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं । 12 वीं से 16 वीं शताब्दी के सन्तों ने भगवान को दूल्हा और भक्तगणों की आत्मा को दुलहिन का रूप दिया । उन्होंने अपने उपदेशों में आत्मा को परमात्मा में डुबा देना चाहा । उत्तर भारत में सूरदास, केशव दास, मीरा के काव्य ने श्री कृष्ण को जन जन का नायक बना दिया । जयदेव, जो कि लक्ष्मण सेन बंगाले (1179–1205) के राजा का राजकवि था, ने गीत गोविन्द लिखकर साहित्य के साथ

कलाकारों को भी नया मार्ग दिखाया । 15 वीं शताब्दी में बिहार, बंगाल और उत्तर भारत राधा कृष्ण सम्प्रदाय के गढ़ बन गये थे । कलाकारों को इन्हीं कवियों के काव्य ने अपनी ओर आकर्षित किया और चित्रकला सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक कारणों से गुफाओं के विशाल प्रांगण से निकलकर लघु चित्रों में परिणत हो गई ।

पहाड़ी चित्रकला के मुख्य केन्द्र थे—बासौली, गुलेर, कांगड़ा, चम्बा, मण्डी, बिलासपुर, कुल्लु इत्यादि । कांगड़ा कलम को लघु चित्रकला में सब से उत्कृष्ट माना गया है ।

गुफा चित्रकला जहां सात्विक विचारों भक्ति, श्रद्धा और कला का संगम थी वहां कांगड़ा चित्रकला साहित्य (दैवी और शृंगारिक) चित्रित कला का समन्वय । कांगड़ा चित्रकला की मुख्य विशेषता है—लयात्मक रेखा चित्र—सौम्य और सहज रंगों से परिपूर्ण ये चित्र मनुष्य की उत्कृष्ट उपलब्धि हैं । इन चित्रों में जहां एक ओर भावुकता है वहां मादकता का रंग मन को कहीं हल्के से छू जाता है । कांगड़ा चित्रकला ने सुन्दरता को नायिकाओं की कोमल और मृदुल भावनाओं में डालकर अमर कर दिया ।

मुख्यतः श्री कृष्ण विभिन्न रूपों में इस चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं ।—कलाकार ने उन्हें कहीं बाल गोपाल, कहीं चरवाहे और कहीं माखनचोर के रूप में दर्शाया है । श्रीकृष्ण के एक अन्य रूप अर्थात कृष्ण लीला को कलाकारों ने अपने अपने मनोभावों से ढाला है—ग्वाल कन्याओं से छेड़ छाड़, चोरी से उनके रूप का रसा-स्वादन आदि को इस तरह से श्री कृष्ण के स्वभाव में मिला दिया गया कि कहीं ग्वाल कन्याएं उन्हें ढूंढ रही हैं तो कहीं उनमें खो गई हैं ।

राधा के साथ श्रीकृष्ण के शृंगारिक चित्र कांगड़ा कलम की एक महत्वपूर्ण निधि हैं—राधा का श्रीकृष्ण से हर ऋतु में मिलना, जहां उसके प्रेम का प्रतीक है, वहीं ऋतुओं का इतना सजीव चित्रण अति लुभावना और संवेदनशीलता से भरपूर है । यदि श्रीकृष्ण से मिलन की प्रसन्नता राधा के अंग अंग से प्रस्फुटित हो रही है तो विरह की अग्नि प्रेमी जन को कैसे झुलसा देती है, इसका रंगों द्वारा सजीव और सौम्य चित्रण कांगड़ा कलम की एक अनथ देन है ।

कांगड़ा कलम के अधिकतर चित्र राग–रागनियों पर आधारित हैं । हर राग को रंगों और फूलों से जीवित कर दिया गया है । राधा द्वारा रात में कृष्ण की प्रतीक्षा उसके झीने वस्त्र, केश सज्जा, शरीर की कोमलता आदि बहुत ही स्वाभाविक जान पड़ती है । इस कला में कमल पुष्प, हंस एवं बतखों के चित्रों का कहीं कहीं आधिक्य है । हिरन को भी चित्रित किया गया है ।

गीत गोविन्द के अतिरिक्त बिहारी की बिहारी–सतसई का भी चित्रण मिलता है । एक चित्र में श्रीकृष्ण एक फूलों भरे गलीचे पर बैठे हैं और छत पर लटकते हुए मक्खन के घड़े को देखकर गोपी से मांगते हैं—ज्यों ही वह अपने पैरों के अगले हिस्से पर खड़ी होकर मक्खन निकालती है, श्री कृष्ण उसकी भाव भंगिमा में मुग्ध जान पड़ते हैं और गोपी का लज्जामय चेहरा उनकी सुन्दरता को द्विगुणित कर देता है । यह चित्र बिहारी की निम्नलिखित पंक्तियों पर पूरा उतरता है :—

अहे चहेड़ी धरै जिन जिन तू लेई उतारी ।
नीकी है छीके छुवै ऐसे ही रह नारी ॥

इन चित्रों को देखकर ऐसा लगता है कि कलाकार ने मनुष्य की असीमित भावनाओं को सीमित करने का सफल प्रयास किया है । ऐसा भी प्रतीत होता है कि कलाकार ने सत्यम्, शिवम् सुन्दरम का समन्वय कर दिया हो । इस प्रकार संकेन्द्रित रसानुभूति का साधारणीकरण करना सदैव कलाकार के माध्यम से सम्भव हुआ है । बाघ और कांगड़ा की चित्रकला में रंगों के समन्वय का श्रेय ऐसे ही उच्च कलाकारों को जाता है ।

जीव की एक विचित्र विशेषता है कि वह स्वयं का निर्माता होता है । जीव से जीव का निर्माण होता है, सम्भवतः इसी कारणवश भगवान शंकर, जो कि वेदों में महादेव को स्वयंभू कहा गया है । इसी तरह मनुष्य ध्यान द्वारा अपने आप को उसी प्रकार एकीकृत कर लेता है, जैसा कि किसी कार्य द्वारा । इच्छाओं के एकीकरण तथा निश्चित उद्देश्य के लिये मस्तिष्क को एकाग्र करने से अपूर्व आन्तरिक शांति उत्पन्न होती है । डा0 अलैकिसस कैरेल 'मैन द अननोन' (लन्दन 1959) में लिखते हैं कि "यह ध्यान की एकाग्रता केवल विचार तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह है जो सजीव हो चुकी है, वह अब केवल वृत्तान्त ही नहीं है वरन् एक ठोस वास्तविकता है" । हैनरी बर्गसन अपनी पुस्तक 'दी ऐवोल्यूशन आफ लाईफ' में लिखते है कि "कुछ व्यक्तियों तथा प्रकृति के मध्य अति सूक्ष्म तथा अस्पष्ट सम्बन्ध होता है । ऐसे मनुष्य समय और स्थान में फैलने और मूर्त वास्तविकता को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं ।" वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि विचार क्षितिज के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक विद्युत लहरों की भांति संचालित होते है, तथापि हमें अभी उनकी तीव्रता का ज्ञान नहीं है । मनुष्य स्वयं वर्तमान की सीमा से बाहर कभी नहीं जा पाता क्योंकि भूत व भविष्य से उसका अटूट सम्बन्ध है जो व्यक्तित्व को विकसित करते रहते हैं, और व्यक्तित्व अपनी विशिष्टताओं के माध्यम से अनेकता से एकता की ओर अग्रसर होता रहता है । भारतीय कलाकार इन्हीं विशेषताओं से परिपूर्ण था और उसकी सर्वोपरि विशेषता यही रही कि वह प्रकृति के सम्पूर्ण सौन्दर्य का उपासक, दृष्टा, तथा उसकी अभिव्यक्ति करने वाला था । फलस्वरूप उसे अपनी कृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था से उसकी समाप्ति तक सौंदर्यानुभूति होती रहती थी, जिसका प्रतिबिम्ब बाघ और कांगड़ा दोनों कलाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

बाघ गुफा-चित्रों में जहां कमल पुष्प का चित्रण बहुलता से पाया जाता है वहां कांगड़ा चित्रकला भी इसका प्रमाण देती है । नायिकाओं को प्रायः कमल ताल के पास नायक की प्रतीक्षा में दर्शाया गया है । आंखों में भक्तिभाव और प्रभु के लिये आस्था दोनों चित्रकला की विशेषतायें है । सब से अधिक समानता रंगों के चित्रण में पाई जाती है । बाघ गुफाओं की चित्रकला में नायिकाओं की केश सज्जा, वस्त्रविन्यास और आभूषणों पर विशेष ध्यान दिया गया है —उसी प्रकार कांगड़ा चित्रकला में तो नायिकाओं की विभिन्न भाव-भंगिमाओं को कलाकार ने अत्यन्त सूक्ष्मतम किन्तु पूर्ण अभिव्यक्ति दी है ।

जिस प्रकार बाघ की बौद्ध-गुफाओं ने बौद्ध-धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को जननायक बनाने में कांगड़ा कलम ने अपनी प्रखर कलात्मक रुचि का प्रदर्शन किया । महात्मा बुद्ध में खोकर स्वयं को पहचानने का मानवमात्र का प्रयत्न कांगड़ा कलम में श्रीकृष्ण के रूप में भगवान के दर्शन में लिप्त गोपियां और भक्तगण—दोनों ही भाव कलाकार की समानवेदी पर आकर एक रूप हो गये हैं । तात्पर्य यह है कि चाहे वह गुफा चित्रकला हो चाहे लघु चित्रकला, कलाकार अपनी सम्पूर्ण कलामय अभिव्यक्ति करने में सफल हुए हैं ।

कला की उत्कृष्टता यही है—जब कलाकार प्राचीन परम्परा को ध्यान में रखते हुए आकाश में विचरण करने वाली कल्पना को समकालीन युग के चित्रण में लाकर आने वाली संतति के लिये उसे विश्व रूप देकर अमर कर देता है । बाघ गुफाएं और कांगड़ा कलम इस का ज्वलन्त प्रमाण हैं । ऐसा लगता है कि यहां कलाकार पलायनवादी

संन्यासी न होकर रहस्यवादी था, जो विश्वव्यापी जीवन का रहस्य जानने के लिये प्रकृति से एकात्म होता था । जिज्ञासा से उत्पन्न, उत्कंठा से प्रस्फुटित, लालसा में विकसित तथा भौतिकता की सीढ़ी से आध्यात्मिकता के शिखर पर पहुंचाने वाली भारतीय कला में जहां गुफा चित्रकला में बाघ का स्थान अजन्ता एवं सिगरिया आदि से सर्वोपरि है वहां लघु चित्रकला में कांगड़ा अन्य चित्रकलाओं में अद्वितीय है ।

सहायक ग्रन्थ—

(1) बाघ की गुफायें—श्री महेश्वरी दयाल खरे ।
(2) मार्ग—'बाघ'—सम्पादक—मुल्कराज आनन्द ।
(3) Panorama of Indian Painting.
(4) Indian Painting in Punjab Hills—W. G. Archer.
(5) Marg (Early Mughul Art).
(6) Kangra Valley Painting —M. S. Randhawa.
(7) Rajput Painting—Coomar Swamy.
(8) स्पैन चयनिका—1973 का सर्वोत्तम संग्रह ।

(चित्र : साभार Archaelogical Survey of Indian और श्री दुर्गा प्रसाद शर्मा —धर्मशाला से) ।

—रजिस्ट्रीकरण अधिकारी,
धर्मशाला ।

Scanned with CamScanner

लाहुल के मन्दिर और गोम्पे

—बलराम

लाहुल प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर है। ऊंची ऊंची पर्वत श्रृखलाएं, मधुर नाद करती बहती चंद्रा तथा भागा नदियां, और इन दोनों की पूर्ण रूप 'चन्द्रभागा' लाहुल के सौन्दर्य को चार चन्द लगा देती है। यहां के भोले भाले लोग जहां कठिन परिश्रम करके जीवन यापन करते हैं वहां ये लोग गहरी धार्मिक आस्था भी रखते हैं। लाहुल में हिन्दु तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी रहते हैं। यहां के लोगों की धार्मिक प्रवृत्ति बहुत पुराने समय से चली आ रही है। और इसका प्रमाण हैं सैंकड़ों साल पुराने यहां के हिन्दू मन्दिर, और बौद्ध मठ जिन्हें स्थानीय भाषा में गोम्पा कह कर जाना जाता है।

हिमाचल प्रदेश सरकार भाषा एवं सांस्कृतिक प्रकरण विभाग की सामान्य प्रशासनिक रिपोर्ट 1975 के अनुसार उस वर्ष राजस्व विभाग के माध्यम से करवाए गए पुरातत्व के महत्व के मन्दिरों और दूसरे स्मारकों के सामान्य सर्वेक्षण के अनुसार लाहुल-स्पिति में 43 बौद्ध मठ और केवल तीन स्थानीय तथा दूसरे अवर्गीकृत हिन्दु देवताओं के मन्दिर थे। ऐसा लगता है कि इस सर्वेक्षण में मुख्य-मुख्य मन्दिर ही लिए गये हैं। वैसे पट्टन घाटी के हर गांव में एक मन्दिर है जहां कि यह देखने में आता है कि बहुत से मन्दिरों का मुख्य देवता महादेव है।

उदयपुर का काली मन्दिर—स्थानीय भाषा में उदयपुर गांव को मारूल या मरगुल कह कर पुकारा जाता है। इसलिए यह देखने में आता है कि इस गांव के मन्दिर को अनजाने में कुछ लोग "मृकुला देवी का मन्दिर" के नाम से भी पुकारते हैं जो कि गल्त है क्योंकि लाहुल की लोकगाथाओं में मृकुला नाम की कोई देवी नहीं है। मृकुला शब्द मारुल या मरगुल से लिया गया है। और वैसे भी किसी देवी का नाम एक गांव के नाम पर रखना कुछ असंगत सा ही लगता है। इस लिए यह मृकुला देवी का नहीं बल्कि काली मां का मन्दिर है।

मरगुल गांव मयाड़ नाला और चन्द्रभागा (चनाव) नदी के संगम पर स्थित है। यहां यह भी बता देना उचित होगा कि मरगुल गांव का दूसरा नाम उदयपुर कब और कैसे पड़ा। कहते हैं कि चम्बा रियास्त के राजा उदय सिंह (1690–1720) ने सन् 1695 के लगभग मरगुल गांव को अपने एक ज़िले का मुख्यालय बनाया था, अतः उन्होंने इस गांव का नाम बदल कर अपने नाम पर रख दिया। परन्तु बदला हुआ यह नाम भी सरकारी कागज़ातों तक ही सीमित है और स्थानीय लोग इसे मरगुल नाम से ही जानते हैं।

चम्बा इतिहास के अध्ययन से पता लगता है कि कुछ वर्षों को छोड़ कर, दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दि से लेकर लगभग सतारहवीं शताब्दि तक तन्दी तक का सारे का सारा पट्टन घाटी क्षेत्र चम्बा रियास्त के अधीन था। तिनन (चन्द्रा) घाटी और गाहर (भागा) घाटी, कुल्लू, रियास्त के अधीन थे। ऐसा लगता है कि शायद राजा उदय सिंह के पिता राजा छत्तर सिंह (1664–1690) के शासनकाल के समय लाहुल को दो भागों में बांटा

गया था—एक हिस्सा थिरोट गांव तक जिसे अंग्रेजों के समय ब्रिटिश लाहुल का नाम दिया गया था तथा दूसरा हिस्सा थिरोट से लेकर उदयपुर गांव तक, जिसे एक साल पहले तक चम्बा लाहुल के नाम से जाना जाता था, आज़ादी के बाद भी ये विभाजित रूप में ही रहे। सन् 1975 में इन दोनों भागों को मिला कर एक एक इकाई का रूप दिया गया।

कई लोगों का विश्वास है कि उदयपुर का काली का मन्दिर और मनाली का हिड़िम्बा देवी का मन्दिर एक ही कारीगर के बनाये हुए हैं। परन्तु इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि कुल्लू के इतिहास का कहना है कि हिम्ड़िबा देवी का मन्दिर कुल्लू के राजा बहादुर सिंह के आदेश के अनुसार सन् 1559 में बनाया गया था। यही नहीं, अगर हम इन दोनों मन्दिरों के लकड़ी पर खुदाई के कामों की तुलना करें तो भी हमें यही अनुभव होगा कि उदयपुर का काली का मन्दिर, हिड़िम्बा देवी के मन्दिर से बहुत पहले बना होगा। हिड़िम्बा देवी के मन्दिर में लकड़ी पर खुदाई का काम बहुत ही साधारण सा है परन्तु दूसरी ओर जहां तक काली मन्दिर का सम्बन्ध है, लकड़ी पर खुदाई का काम विस्तारपूर्वक ही नहीं अपितु बहुत सुन्दर और आकर्षक भी है जिसके द्वारा रामायण, महाभारत इत्यादि की कहानियों को खूबसूरत ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

वैसे काली का यह मन्दिर बाहर से उतना भव्य नहीं लगता है जितना कि अन्दर से है। यह मन्दिर पहाड़ी की एक ढलान पर बना हुआ है। मन्दिर का त्रिकोणनुमा ढलानदार छत लकड़ी के तख्तों से बना हुआ है। इस तरह से यह मैदानी इलाकों में स्थित हिन्दु मन्दिरों की "शिखर" शैली से मिलता जुलता है। काली की मूर्ति की यहां आठ बाहें हैं और यह एक भैंस रूपी राक्षस के ऊपर खड़ी है। उनका शेर भैंस के पीछे से आक्रमण करता हुआ दिखाई देता है। मन्दिर का मुख्य दरवाज़ा पूर्व दिशा की ओर है। अगर हम मन्दिर को पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में बांटें तो यह कह सकते हैं कि पूर्व की ओर एक मण्डप है जहां कि छत्त को सहारा देने के लिए छः खम्बे हैं। इसी मण्डप के सामने एक बड़ी खिड़की है और मन्दिर के पश्चिमी भाग में मूर्ति रखी हुई है। दीवार और मूर्ति के बीच, मूर्ति के इर्द-गिर्द परिक्रमा लगाने के लिये काफी स्थान है।

मन्दिर में लकड़ी के बने दो द्वारपाल हैं जिनमें से प्रत्येक की ऊंचाई छः फुट से कुछ ज्यादा ही है। इन दो मूर्तियों को स्थानीय लोग द्वारवीर या भैरों कह कर भी पुकारते हैं। इन मूर्तियों के बारे में लिखने के लाईक वैसे कुछ भी नहीं है, सिवाय इसके कि वे बलि के बकरों के खून से पोते हैं जिससे कि वे और भी डरावने से लगते हैं। स्थानीय लोगों का यह विश्वास है कि काली की मूर्ति के दर्शन करने के बाद जब बाहर आना हो तो कभी भी अपने साथी को "चलो चलें" नहीं कहना चाहिए, बल्कि केवल आंखों के इशारे से ही ही चलने के लिये संकेत करना चाहिये। अगर जबान से चलने के लिए कह दें तो वे द्वारपाल भी चल पड़ते हैं जो कि अपशकुन माना जाता है। एक द्वारपाल की मूर्ति तो वैसे ही कुछ आगे की ओर झुकी हुई सी लगती है। कहा जाता है कि एक बार किसी अजनबी ने काली मां के दर्शन कर लेने के बाद अपने एक साथी को चलने के लिए कहा तो उस समय इन दो द्वारपालों में से एक ने चलने के लिये कदम उठाया ही था कि मन्दिर के पुजारी ने उसे देख लिया, और पुजारी ने पूजा के द्वारा मिन्नतें कर के ही उसे रोका था। इसलिए लकड़ी की वह मूर्ति सदा के लिए थोड़ी सी झुकी की झुकी ही रह गई।

यहां हम लकड़ी पर खुदाई के बारे में भी बातें कर लें तो अनुचित नहीं होगा। जैसे कि हम पहले ही कह चुके हैं कि काली मन्दिर में लकड़ी पर खुदाई का काफी काम किया हुआ है। आसानी के लिए हम इसको तीन भागों में बांट सकते हैं। प्रथम, मण्डप के अन्दर की ओर लगी लकड़ी पर खुदाई का काम, दूसरा, छत्त को सहायता देने वाले चार खम्बों पर खदाई का काम और तीसरा, मन्दिर के सामने वाले भाग पर।

सर्वप्रथम हम मण्डप की छत्त के अन्दर की ओर लगी लकड़ी पर खुदाई के काम के बारे में बातें कर लेते हैं। छत्त के बीच एक फूल बना हुआ है जो कि कमल का फूल जैसा लगता है जिसके इर्दगिर्द छोटे छोटे और फूल हैं। इन के इर्द गिर्द फिर कई छोटी छोटी मानव आकृतियां है जो कि शायद देवी देवता हैं। पूर्वी भाग में आकाश में उड़ते हुए गन्धर्वों की जोड़ियां दिखाई देती हैं जिन के वांयीं ओर शायद अप्सराएं हैं और इनके नीचे नर्तक और बांसुरी वादक हैं।

पश्चिमी भाग की ऊपरी सतह पर भगवान शिव को दिखाया गया है और निचली सतह पर तेरह नर्तक ढोल (या मृदंग) के साथ नाचते दिखाई देते हैं। इन दो सतहों के बीच एक ओर तो चौदह भुजाओं वाले भगवान शिव को नृत्य मुद्रा में दिखाया गया है तो दूसरी ओर दस भुजाओं वाली एक देवी हाथों में छुरा, त्रिशूल इत्यादि लेकर नृत्य करती हुई दिखाई देती है। इन दोनों के दायें और बायें ओर एक एक आदमी खड़े है जिन में प्रत्येक की तीन आंखें और चार भुजाएं हैं। दाहिनी ओर वाले आदमी के हाथों में डमरू और गुरज है तो दायीं ओर बैठे आदमी के हाथों में त्रिशूल और माला इत्यादि हैं। एक तरफ चार भुजाओं वाले गणेश जी भी एक शेर के पास बैठे हुए दिखाई देते हैं।

छत के दक्षिणी भाग में भी पूर्वी भाग की तरह, दो सतहें हैं। पूर्वी भाग की तरह ही दक्षिणी भाग की ऊपरी सतह में अप्सराएं और गन्धर्व हैं। छः भुजाओं वाले दो गन्धर्व शिवलिंग की पूजा करने में व्यस्त दिखाई देते हैं। शिव लिंग के बिल्कुल नीचे नन्दी और उसके ठीक नीचे कमल का फूल है। या यूं कहा जाये कि कमल के फूल के ऊपर नन्दी, और नन्दी के ऊपर शिवलिंग दिखाई देता है। पास में बैठी अप्सरायें गाती बजाती हुई दिखाई देती हैं। नीचे की सतह में सोलह नर्तक और संगीत वादक हैं। संगीत वादक शंख, डमरू और बांसुरी इत्यादि बजा रहे हैं।

उत्तरी भाग में भगवान् बुद्ध बैठे हैं और उनके दोनों ओर दो दो औरतें हैं। सामने कुछ राक्षस दिखाई देते हैं जो त्रिशूल इत्यादि को लेकर भगवान बुद्ध को गद्दी के नीचे गाड़ते हुए से लगते हैं। ऐसा लगता है कि वे लोग भगवान् बुद्ध की गद्दी को गिराने की कोशिश कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ और राक्षसनुमा आकृतियां शंख इत्यादि बजाते हुए दिखाई देती हैं। बुद्ध भगवान के बाईं ओर एक आदमी एक रथ पर बैठा हुआ है और उस रथ के साथ चार जानवर जुड़े हुए है जो कि शेर जैसे लगते हैं। इसी प्रकार दायीं ओर के दृश्य में भी एक आदमी, एक रथ, चार शेर और कुछ औरतें हैं।

यहां यह बता देना उचित होगा कि छत्त का अन्दर का भाग लकड़ी के नौ पट्टों से मिल कर बना है जिनमें से आठ पट्टे मिल कर छत्त और दीवार के बीच सीमा निर्धारण का काम करते हैं और नौवां पट्टा वह है जिस पर गुलाब के रूप का एक काफी बड़ा फूल बना है। इन नौ में से पांच पट्टों के बारे में हम पहले ही बात कर चुके हैं। सुविधा के लिए बाकी के उन चार पट्टों को तीन भागों में बांटा जा सकता है, पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी भाग।

सर्वप्रथम हम पश्चिमी भाग के दृश्यों को देख लेते हैं। इस भाग के दायें से बांयीं ओर देखने से प्रथम दो लाईनों में हमें दो आदमियों की आकृतियां दिखाई देती हैं जो कि तीर कमान धारण किये हुए से लगते हैं। इन के पीछे कुछ बन्दरों जैसी सूरत दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है कि ये तीर कमानधारी शायद भगवान राम और लक्ष्मण होंगे। बाद के एक दृश्य में हनुमान को उड़ कर समुद्र पार करता हुआ दर्शाया गया है। शायद शिल्पकार को लकड़ी पर खुदाई करके समुद्र का रूप देने में कुछ कठिनाई हुई होगी अतः वह एक

जोड़ी मछलियों से इस भाव को प्रदर्शित करने में सफल हो गया। हनुमान ने एक हाथ में पहाड़ तथा दूसरे हाथ से अपनी पूंछ को पकड़ कर रखा हुआ है। इसके बाद हम उसको एक वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ पाते हैं जिसके नीचे एक औरत बैठी है। वह वृक्ष शायद रावण की अशोकवाटिका है और वह औरत शायद जगत जननी सीता है। बीच जैसे में एक मकान के ऊपर जलती हुई पूंछ वाला हनुमान खड़ा है। बाद के एक दृश्य में दस सिरों वाला एक आदमी (रावण) खड़ा है जिसके दोनों ओर दो दो मानव आकृतियां है। शायद वे रावण के अंगरक्षक होंगे और इन के सामने फिर हनुमान दिखाई देता है। अन्तिम दृश्य में एक आदमी है जो कि सो रहा है (कुम्भकर्ण), जिसके इर्दगिर्द कुछ लोग ढोल इत्यादि बजाते हुए से मालूम पड़ते हैं। शायद वे लोग उसे जगाने की कोशिश कर रहे हैं। इस तरह से इस भाग में रामायण की मुख्य मुख्य बातों को दर्शाने की कोशिश की गई है।

इसी तरह पूर्वी भाग में महाभारत के कुछ अंशों को चित्रित किया गया है। अगर हम दांयें से बांयें देखना शुरू करें तो हमें चार चार घोड़ों से जुते दो रथ आमने सामने दिखाई देते हैं। और प्रत्येक रथ में एक एक आदमी हाथ में तीर कमान लिए खड़े हैं। दायें हाथ वाले रथ के सामने एक बन्दर है इस रथ पर खड़े योद्धा के पीछे एक आदमी और है जो कि ऐसा लगता है जैसे कि गरुड़ पर सवार हो। क्योंकि गरुड़ भगवान विष्णु, का वाहन है इसलिए उस पर सवार आदमी भगवान विष्णु ही होंगे। अब क्यूं कि महाभारत के युद्ध, में भगवान विष्णु के अवतार भगवान कृष्ण ने भाग लिया था अतः हम यह मान सकते हैं कि गरुड़ पर सवार वह आदमी श्रीकृष्ण और वह योद्धा अर्जुन होगा परन्तु दूसरा योद्धा कौन है? वह महाभारत की लड़ाई में पांडवों के विरुद्ध हथियार उठाने वालों में से कोई भी एक हो सकता है। अतः हम उसे कौरवों का एक प्रतिनिधि मान सकते हैं। इन दो योद्धाओं और रथों के बीच दो और योद्धा ढाल और तलवार लिये आपस में लड़ रहे हैं। उसके बाद की दो लाईनों में कुछ जानवर, बैल जैसे, घोड़े इत्यादि हैं। पीछे एक आदमी इन पशुओं को हांक रहा है। अन्त में एक आदमी रथ पर बैठ कर अपने पांच प्रतिद्वन्द्वियों, जो शायद पांडव ही होंगे, की ओर तीर चला रहा है।

उत्तरी भाग में महाभारत की कहानी को कुछ और आगे तक ले जाया गया है। दांयीं से बांयीं ओर देखने पर हम एक औरत और एक मर्द को बैठे हुए पाते हैं। इन के दोनों ओर चंवर को हाथों में लिए हुए दो सहायकों के अतिरिक्त पांच आदमी और भी खड़े हैं। दांयीं ओर खड़े तीन आदमियों में से दो के हाथों में तलवारें और तीसरे के हाथ में एक गदा है। इसी प्रकार से बायीं ओर खड़े दो आदमियों में से एक के हाथ में तीर कमान और दूसरे के हाथ में तलवार है। ऐसा लगता है कि यह गदाधारी भीम है और तीर कमान वाला अर्जुन है। अगर यह अनुमान सही है तो बीच में बैठा हुआ आदमी राजा द्रुपद होगा और साथ में बैठी वह औरत उसकी महारानी होगी। दूसरे दृष्य में सिंहासन पर बैठे एक राजा के सामने हाथ जोड़े एक औरत खड़ी है जो कि शायद द्रोपदी ही हो सकती है। इसके बाद दृश्यों में अर्जुन का बिना ऊपर देखे एक खम्बे के सिरे पर घूमती हुई मछली का निशाना बांधना और फिर राज्याभिषेक इत्यादि को भी चित्रित किया गया है।

इसी प्रकार लकड़ी पर खुदाई का काम बरामदे की खिड़की के दोनों ओर लगी लकड़ियों पर भी किया गया है। खिड़की के पश्चिमी भाग पर समुद्र मन्थन और असुरों की पराजय की कहानी अंकित है तथा पूर्वी भाग में भगवान विष्णु के अवतरित होने की बातों को दिखाया गया है। मन्दिर के दरवाजे में भी भगवान विष्णु के दस विभिन्न रूपों को चित्रित किया गया है।

लाहुल में न तो कोई मन्दिर है और न ही कोई गोम्पा जिसमें लकड़ी पर खुदाई का काम इतना विस्तार से किया गया हो जितना कि उदयपुर के काली मन्दिर में किया गया है।

हिड़िम्बा देवी का मन्दिर—यह मन्दिर पट्टन घाटी के तलजाने गांव से लगभग तीन फर्लांग पीछे सड़क से लगभग 150 गज नीचे वेली के वृक्षों के बीच स्थित है । इस मन्दिर में देखने वाली कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि न तो उदयपुर के मन्दिर की तरह यहां कोई लकड़ी पर खुदाई का काम किया गया है और न ही त्रिलोकनाथ के मन्दिर की तरह कोई सुन्दर मूर्ति ही है । लकड़ी के तख्तों का त्रिकोणनुमा बुत वाला यह एक साधारण सा मन्दिर है जिस में मूर्ति के स्थान पर एक पत्थर का बुत है । इस पत्थर पर थोड़ा सा खुदाई का काम तो किया हुआ है, परन्तु यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि यह है किस प्रकार का ! यह न तो इन्सान की शक्ल है और न ही किसी पशु की ।

इस मन्दिर की एक विशेष बात यह है कि वैसे तो यह हिन्दु मन्दिर है परन्तु उसका पुजारी जाहलमा गांव का एक बौद्ध-मतानुयायी है । और इसी प्रकार से मन्दिर का एक 'गुर' (गुरू) एक हरिजन है । परन्तु फिर भी हिन्दु और बौद्ध समान रूप से इसे मानते हैं । मन्दिर का दरवाजा हर समय खुला रहता है जो जब चाहे जाकर पूजा कर सकता है ।

मन्दिर के दरवाज़े पर थोड़ा सा खुदाई का काम किया हुआ है, परन्तु यह है बहुत ही साधारण । इस लिए लगता है कि यह काम बाद में किया गया है । दरवाजे पर और उसके इर्द गिर्द जहां कहीं लकड़ी दिखाई दे वहीं पर छोटे छोटे अनगिनत त्रिशूल गाड़े हुए हैं । यह तीन कोठियों—जाहलमा, जोबरंग और शांशा का सांझा मन्दिर माना जाता है ।

सतरहवीं शताब्दि में कुल्लू के राजा विधिसिंह ने लद्दाख के राजा को हरा कर लाहुल को अपने राज्य में मिला लिया था । इसी दौरान जब यह पट्टन घाटी पहुंचा तो उन्हें पता लगा कि जाहलमां गांव में हिड़िम्बा देवी का मन्दिर है । राजा विधि सिंह, मनाली के हिड़िम्बा देवी मन्दिर के कारण, इस देवी की शक्तियों और पराक्रमों से पहले ही भली भांति परिचित था, अतः उसने जाहलमां आकर हिड़िम्बा देवी की पूजा करने का एक नया ही ढंग निकाला जिसे "मलि" कह कर पुकारा जाता था, जिसके अनुसार साल में एक बार याक की बलि दी जाती थी । उन्होंने इस बलि पर आने वाले खर्च को भी अपने कन्धों पर ले लेने का वायदा किया । जब तक विधि सिंह जिन्दा रहा तब तक याक की बलि दी जाती रही । राजा विधि सिंह के बाद कुल्लू के सिंहासन पर राजा मानसिंह (1668–1719) आये जिन्होंने इस बलि पर होने वाले खर्च को देना शायद बन्द कर दिया । इस तरह राजा विधि सिंह के साथ याक बलि की प्रथा भी खत्म हो गई । इस अमानवीय प्रथा के खत्म होने का मुख्य कारण इस प्रथा के प्रति लोगों की अरुचि और अविश्वास होना है । अगर लोगों का इस प्रथा में विश्वास होता तो वे लोग राजा विधि सिंह से पहले ही इसे शुरू कर सकते थे अन्यथा धार्मिक विश्वास के नाम पर लोग सब कुछ कर देते हैं । कई लोग यह कहते हैं कि याक की बढ़ती हुई कीमत और राजा द्वारा सहायता न दिया जाना ही इस प्रथा के खत्म होने के मुख्य कारण हो सकते हैं परन्तु धार्मिक अविश्वास के सामने दोनों कारण नगण्य से लगते हैं । इस तरह से यह प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही खत्म हो गई थी ।

इसके बाद भी लोगों के दिलों में इस देवी की शक्ति में विश्वास कम नहीं हुआ है । अभी भी भेड़-बकरियों की बलि दी जाती है । अगर कभी वर्षा की जरूरत हो तो लोग इस मन्दिर में बकरे की बलि देते हैं ताकि समय पर वर्षा हो । इसी प्रकार अगर कभी मौसम खराब हो तो उसमें सुधार लाने के लिए भी बलि दी जाती है ।

त्रिलोकनाथ का मन्दिर—त्रिलोकनाथ का गांव चन्द्रभागा नदी के बायीं ओर नदी तल से लगभग एक हज़ार फुट की ऊंचाई पर स्थित है । मन्दिर का मुख्य भाग पत्थर से बना हुआ है मगर शिखर ईंटों का बना हुआ है । इस

तरह हम देखते हैं कि लाहुल में त्रिलोकनाथ का मन्दिर ही एक अकेला मन्दिर है जिसे कि हम 'शिखर' किस्म का कह सकते हैं ।

मन्दिर के मुख्य द्वार के दोनों ओर यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है । उसके बाद आंगन आता है जहां कि बीच में एक लम्बा झण्डा गाड़ा हुआ है जिसके इर्द गिर्द कई छोटे छोटे झण्डे हैं । इन झण्डों के पास कई पत्थर रखे हुए हैं जिन पर खुदाई करके भोटी भाषा में 'ओम् मने पन्मे' इत्यादि लिखा हुआ है । इस आंगन के दांयें और बांयें ओर कमरे बने हुए हैं जो कि दो मन्जिल हैं । दांयीं ओर के निचले कमरों में मन्दिर के पुजारी जो कि एक लामा है, का निवास स्थान है । इन के ऊपर वाले एक कमरे में एक बहुत बड़ा "मने दुङ्ग्युर" (Prayer Wheel) है जिसकी ऊंचाई शायद पांच फुट से कम नहीं है और गोलाई भी तीन फुट से कुछ ज्यादा लगती है । आंगन के बांई ओर के कमरों को यात्रियों के ठहरने के लिये रखा गया है। आंगन के ठीक सामने मन्दिर का दरवाज़ा है जहां से होकर हम एक गलियारे में पहुंचते हैं । यह गलियारा मन्दिर के चारों ओर जाता है ताकि लोग मन्दिर की परिक्रमा कर सकें । इसी गलियारे के दाहिने ओर के दीवारों के साथ लगे चौखटे में छोटे छोटे बहुत से "मने लाक्खोर" अर्थात हाथ से चलाये जाने वाले मने (Prayer Wheel) लगे हुए हैं । जब यात्री मन्दिर की परिक्रमा करते हैं तो इन के ऊपर हाथ रख कर चलते हैं । हाथ रखते ही यह घूमना शुरू कर देते हैं । मूर्ति के सामने मण्डप है जहां पर बैठ कर पुजारी और उसके सहायक बुद्ध-धर्म ग्रन्थों का पाठ करते हैं और ढोल इत्यादि भी बजाते रहते हैं । इसी मण्डप के एक कोने में पीतल के बने नन्हें नन्हें सैंकड़ों दीपक रखे हुए हैं जिन्हें साधारणतया तीर्थ यात्री ही जलाते हैं ।

मन्दिर में संगमरमर की बनी छः भुजाओं वाली भगवान अवलोकितेश्वर की मूर्ति है। बायें हाथ में कमल का फूल तथा दायें हाथ आशीर्वाद देने की मुद्रा में हैं । इस मूर्ति के सिर के ऊपर एक और मूर्ति है जो कि मूर्ति के ऊपर रखे सजावट के कपड़ों के कारण दिखाई नहीं देती ।

इस मूर्ति की बाईं टांग में निशान है । कहते हैं कि कुल्लू के राजा विधिसिंह जब त्रिलोकनाथ जी का दर्शन करने आये तो मूर्ति की सुन्दरता को देख कर राजा का मन डोल गया । वह मूर्ति को उठा कर कुल्लू ले जाना चाहता था । परन्तु जब उसने मूर्ति को उठाने के लिए हाथ बढ़ाया तो मूर्ति इतनी भारी हो गई कि उस से उठाई ही नही गई । राजा ने अपने सिपाही को सहायता करने के लिये कहा, परन्तु फिर भी वे उसे उठा नहीं सके । अतः उन्होंने मूर्ति की एक टांग को काट कर उठाने की युक्ति बनाई । परन्तु न तो वे टांग तोड़ सके और न ही उसे उठा सके। उसी समय तलवार के प्रहार के कारण एक छोटा सा निशान सदा के लिए बन गया । और अन्त में वे अपना सा मुहं लेकर वापिस चले गये ।

मूर्ति के सामने दिवारों से थोड़ी दूरी पर दोनों ओर एक एक पत्थर के खम्बे हैं। दीवारों और खम्बों की आपस की दूरी एक-एक फुट से कुछ ज्यादा ही होगी । कहते हैं कि अगर किसी आदमी ने अपनी जिन्दगी में कुछ बुरे काम किये हों तो वह इन खम्बों और दीवारों के बीच से नहीं निकल सकता और अगर किसी ने कोई भी बुरे कर्म नहीं किए हैं तो वह आसानी से आर-पार आ जा सकता है । अतः प्रायः यह देखने में आता है कि अगर किसी आदमी ने अपनी जिन्दगी में कभी कुछ बुरे काम किये हों तो वह वहां से निकलने की कोशिश ही नहीं करता, यह सोच कर कि कहीं बीच में ही फंस न जाये । और इस तरह से लोगों के सामने ही उसकी पोल न खुल जाये ।

अच्छे कामों और बुरे कर्मों वाले लोगों की पहचान के लिए एक और साधन भी इस मन्दिर में मौजूद

है । मन्दिर के एक अन्धेरे से कोने में एक पत्थर का बुत है । कहते हैं कि बुरे कर्म करने वाले लोग इस बु को उठा ही नहीं सकते चाहे वे लाख प्रयत्न क्यों न करें ।

यहां यह भी बता देना उचित होगा कि त्रिलोकनाथ के मन्दिर को हम तो पूर्ण रूप से मन्दिरों की श्रेणी में रख सकते हैं और न ही गोम्पे की श्रेणी में, क्योंकि इस में दोनों के ही गुण विद्यमान हैं । यह पूर्ण रूप से मन्दिर इसलिए नहीं है क्योंकि सर्वप्रथम इस मन्दिर का पुजारी एक बौद्ध लामा है इसलिए वह पूजा इत्यादि भी उसी ढंग से करता है । दूसरी बात यह है कि इस मन्दिर में भेड़-बकरी की बलि की प्रथा नहीं है । और तीसरी बात मन्दिर के आंगन में बने पत्थर और एक कमरे में बहुत बड़े दुङ्ग्युर (Prayer Wheel) का होना है ।

परन्तु यह पूर्ण रूप से गोम्पा भी नहीं है । क्योंकि मन्दिर का मुख्य जिसे स्थानीय भाषा में "ठगुर" कहते है, एक हिन्दु है । दूसरी विशेष बात यह है कि इस मन्दिर का ढांचा लाहुल में विद्यमान गोम्पों की तरह नहीं बल्कि मैदानी इलाकों में स्थित हिन्दु मन्दिरों जैसा है । तीसरी बात इस मन्दिर में तान्त्रिक चित्रकारी का न होना है जो कि लाहुल के हर गोम्पे में पाई जाती है । इसी प्रकार से इस मन्दिर में मनाया जाने वाला एक मात्र मेला "पोरी" भी हिन्दु मेला ही है ।

घेपन का मन्दिर—इसके अतिरिक्त लाहुल का एक और मुख्य देवता है, घेवां या 'घेपङ' जिसे घेपन कह कर भी जाना जाता है । घेपन का मन्दिर चन्द्रा घाटी से सिस्सु के नज़दीक खंगसर गांव में स्थित है । कहते हैं कि लाहुल में जौ इत्यादि का बीज इसी देवता ने लाया था । यह भी विश्वास किया जाता है कि घेपन से पहले लाहुल में राक्षसों का बोलबाला था । राक्षस यह नहीं चाहते थे कि लाहुल में मनुष्य का वास हो । इसलिए जब घेपन देवता अनाजों का बीज लेकर बारालाचा दर्रे को पार करके लिगती के मैदान में पहुंचा तो राक्षस उसे रोक कर कहने लगे कि वह अनाज के बीज को वहां से आगे नहीं ले जा सकता है । घेपन देवता ने उनकी बातों को अनसुनी कर दिया । परन्तु राक्षस भी कब हार मानने वाले थे । उन्होंने घेपन को चेतावनी दी कि वह आगे तभी जा सकता है जब वह राक्षसों को हरा दे । घेपन ने चुनौती स्वीकार कर ली और लड़ाई शुरू हो गई । इस लड़ाई के समय बहुत सा बीज हाथ से गिर कर नष्ट हो गया । फिर भी वह थोड़ा बहुत बीज अपने मुंह में डाल कर सुरक्षित रखने में सफल हो गया और इसके साथ ही लाहुल में इन्सान फलने फूलने लगा । शायद इसी कारण से घेपन पर अभी भी लोगों की गहरी आस्था है ।

कहते हैं कि घेपन देवता लाहुल आते समय अपनी मां, जिस का नाम बौद्ध-मतानुयायियों के अनुसार ज़ङ्दुल था, को भी अपने साथ ले आया था । यह भी विश्वास किया जाता है कि ज़ङ्दुल क्वाक (खोकसर के नज़दीक) नाम के स्थान पर आकर रहने लगी और स्वयं घेपन संगसर गांव में बस गया ।

घेपन को कुल्लू के मलाणा गांव के देवता 'जम्लू' का छोटा भाई माना जाता है । यह कहां तक सच है है इसके बारे में कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता परन्तु यह अवश्य है कि इन दोनों देवताओं के बीच कुछ सम्बन्ध जरूर है क्योंकि अभी भी लगभग तीन साल के बाद घेपन देवता जम्लू देवता से मिलने मलाणा गांव जाता है । मलाणा जाते समय घेपन के चांदी के छत्तर को एक छड़ी के सिरे पर बांध कर ले जाते हैं । घेपन के "गुरहू", नगाड़े वादक और बहुत सारे लोग साथ होते हैं । रास्ते में आने वाले प्रत्येक गांव में इस जन-समूह का स्वागत किया जाता है, फिर चाहे वह गांव लाहुल का हो या कुल्लू का, स्वागत में कोई अन्तर नहीं आता है । मलाणा पहुंच कर दोनों देवताओं का मिलन होता है । यह भी कहा जाता है कि उसी

दिन मलाणा के लोग जंगल से लकड़ी के लम्बे लम्बे तीन चार खम्बों (जिन्हें पट्टनी बोली में 'दारू' कहा जाता है है) को काट कर लाते हैं, और रात को जम्लू देवता के मन्दिर के सामने रख देते हैं । सुबह उन में से एक खम्बा अलग हुआ होता है जिस को फिर रंग-बिरंगे कपड़ों से सजा कर घेपन की पालकी के रूप में प्रयोग में लाया जाता है । इस 'दारु' के एक सिरे पर पगड़ी बनाई जाती है जिसकी गोलाई चार फुट से कम देखने को नहीं मिलती । । इस तरह से घेपन की पालकी की लकड़ी शताब्दियों से मलाणा से ही आती है और यही लकड़ी बाद में पूजनीय मानी जाती है ।

घेपन का पुजारी खंगसर गांव में रहता है अतः यात्रियों की आसानी के लिये गांव में ही एक दान–पात्र रखा हुआ है ताकि लोग दक्षिणा इत्यादि उसमें डाल सकें । वैसे घेपन का असली निवास स्थान खंगसर गांव के उत्तर की ओर एक पहाड़ी पर स्थित है । मलाणा से लाया हुआ लकड़ी का वह खम्बा इसी पहाड़ी पर स्थित एक मात्र देवदार के वृक्ष के पास रखा रहता है । क्योंकि लोग इस खम्बे को ही पूजनीय मानते हैं इसलिए इस स्थान को ही हम मन्दिर के रूप में मान सकते हैं । वैसे यहां पर न तो कोई मकान है और न ही कोई मूर्ति । कुछ भी नहीं है, फिर भी राजा है, घेपन राजा ।

यह देवता सब धर्मानुयायियों के बीच बहुत ही लोकप्रिय है । और इनकी लोकप्रियता का अनुमान यहां से लगाया जा सकता है कि लाहुल की शायद सब से ऊंची पर्वत चोटी का नाम भी इसी घेपन के नाम से ही जाना जाता है । कहते हैं कि यह घेपन चोटी 'बारालाचा पास' और 'रोहतांग पास' दोनों जगहों से दिखाई देती है । यह चोटी इतनी ऊंची है कि सारे लाहुल में सूर्यास्त हो जाने के काफी देर बाद वहां धूप चमकती हुई नज़र आती है ।

घेपन देवता हर तीन साल के बाद सारे लाहुल का चक्र लगाने के लिये निकलता है । रास्ते में जगह जगह पर भेड़ बकरियों की बलि दी जाती है । जिस घर में भी जायें वहीं पर मकान मालिक न केवल देवता का अपितु उसके साथ चलने वाले सैंकड़ों लोगों के खाने पीने का भी प्रबन्ध करता है । देवता की पूजा करने के दो प्रमुख तरीके होते हैं एक तो बकरे आदि का बलि चढ़ाना है और दूसरा तरीका है–मक्खन के साथ पूजा करना । गरीब लोग साधारणतया मक्खन के साथ ही पूजा करते हैं जो कि अधिक उपयुक्त भी लगता है । अगर देवता किसी एक गांव में ठहर जाये तो रात के खाने पीने का सारा खर्च उस गांव के निवासियों को समान रूप से उठाना पड़ता है । दूसरे दिन आगे के गांव तक पहुंचाने जाना भी पहले गांव का धार्मिक कर्तव्य होता है । कई लोग घेपन देवता को उठा कर अपने घर का चक्कर भी लगवाते हैं । ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस तरह से भूत प्रेत इत्यादि की छाया घर पर नहीं पड़ती ।

बौद्ध मठ, जिन्हें गोम्पा कह कर पुकारा जाता है, भी जनसाधारण के जीवन को प्रभावित करने में कम महत्व नहीं रखते । जैसे कि पहले ही कहा गया है कि जिला लाहुल-स्पिति में एक गणना के अनुसार 43 बौध मठ हैं जो कि हिमाचल प्रदेश के कुल बौद्ध मठों (129) का 33 प्रतिशत हैं । लाहुल के तीन मुख्य बौद्ध मठ कारदङ, घण्डाढ और शशुर गांवों में स्थित हैं ।

कारदङ गोम्पा.—कारदङ गांव भागा नदी के बांई ओर, और केलांग के बिल्कुल सामने नदी पार स्थित है । बेंली के वृक्षों के बीच से होती हुई एक छोटी सी पगडण्डी यात्रियों को भागा नदी के किनारे तक ले जाती है और वहां से पुल पार करने के बाद एक दम चढ़ाई शुरू हो जाती है जब तक कि गांव न पहुंच जाये ।

Scanned with CamScanner

कहते हैं कि कारदङ गोम्पे की स्थापना लगभग 900 साल पहले हुई थी परन्तु उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त तक यह जीर्ण-शीर्ण हालत में रहा और किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया । परन्तु बीसवीं शताब्दि के शुरू म कारदङ गांव के एक लामा नोरबू ने इस गोम्पे को फिर से नई जिन्दगी दी । इस गोम्पे को दोबारा स्थापित करने से पहले नोरबू ने सन्यास ले लिया था । शान्ति की प्राप्ति के लिये वह पैदल चल कर तिब्बत से होता हुआ भूटान तक पहुंच गया । अपनी उस यात्रा के दौरान वह खम नाम की एक जगह पर लामा तोबदन रिम्बोछे से मिला । क्योंकि लामा तोबदन योग शास्त्र का विद्वान था अतः नोरबू ने उसका शिष्य बन कर योग अभ्यास सीखना शुरू कर दिया । साथ ही साथ वह बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का भी अध्ययन करता रहा । काफी कुछ सीख जाने के बाद वह लाहुल वापिस आ गया, जहां उसने धर्म प्रचार करना शुरू कर दिया । कारदङ गांव के बहुत से नौजवान उसके शिष्य बन गये और इस तरह से सन 1912 से कारदङ गोम्पे ने फिर काम करना शुरू कर दिया । वह स्वयं लामा नोरबू से लामा नोरबू रिम्बोछे (अर्थात् धार्मिक गुरू) हो गया । यादगार के रूप में उसकी अस्थियों को अभी भी इस गोम्पे में सुरक्षित रखा हुआ है ।

लाहुल में यह शायद एक अकेला गोम्पा है जहां कि बौद्ध-धर्म ग्रन्थों (दोवङ) का एक विस्तृत पुस्तकालय है और जहां कभी कभी विदेशी भी शिक्षा ग्रहण करते हुए पाये जा सकते हैं । इसी प्रकार से जितने लामा और चोमो (Nuns) इस गोम्पे में हैं उतने शायद लाहुल के किसी भी गोम्पे में नहीं हैं ।

इस गोम्पे के अन्दर की दीवारों में विभिन्न प्रकार की रंगीन तान्त्रिक चित्रकारियां की गई हैं । त्रिलोकनाथ के मन्दिर की तरह यहां भी दो बहुत बड़े बड़े मने दुंग्युर (Prayer wheels) हैं । एक जगह पर ताम्बे की बहुत सी मूर्तियां और एक लाईन में छोटे छोटे कई मने लाक्खोर (Prayer wheels) रखे हुए हैं । इसी प्रकार एक कमरे में एक और मूर्ति है जिसके ग्यारह सिर और अनगिनत बाहें हैं । इसी प्रकार कपड़ों पर की गई चित्रकारी भी देखने योग्य है जो कि सामान्यतया दीवारों पर लटकाये हुए दिखाई देते हैं । गोम्पे के नजदीक हीं चांदी की पर्त चढ़ी एक छोरतेन भी है ।

घण्डाढ गोम्पा.—यह गोम्पा चन्द्रा और भागा नदियों के संगम के नज़दीक एक पहाड़ी पर स्थित है । कहते हैं कि यह लगभग 800 साल पुराना है और इसका संस्थापक पद्म सम्भव था जिसने लाहुल में सब से पहले बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था ।

यह भी सुनने में आता है कि किसी ज़माने में त्रिलोकनाथ मन्दिर का राणा इस गोम्पे का कारदार हुआ करता था । कारदार का गुरू भूटान नरेश नवाङ नमग्याल था । राणा ने इस गोम्पे के कारदारी के काम को अपने गुरू के हाथ में इस शर्त पर दे दिया कि वह (गुरू) गोम्पे की देखभाल करने के लिये एक लामा को नियुक्त कर देगा । इस प्रकार से हर तीन साल के बाद भूटान से एक लामा आता था जो कि तीन साल तक इस गोम्पे के मुख्य के रूप में काम करता था । परन्तु भौगोलिक दूरी के कारण उस प्रकार की व्यवस्था बहुत देर तक नहीं चल सकी । अतः उसने लद्दाख के तगना गोम्पे के मुख्य लामा को यह अधिकार दे दिया कि वह समय समय पर घण्डाढ गोम्पे के लिये एक लामा की नियुक्ति करके भेज सकता है । अभी भी यह प्रथा जारी है । कहते है कि लाहुल के कई स्थानों पर इस गोम्पे की ज़मीन है ।

त्रिलोकनाथ मन्दिर के राणा का कुछ समय तक घण्डाढ गोम्पे का कारदार होने के कारण, कई लोगों का मत है, कि पहले यह गोम्पा एक एक हिन्दु मन्दिर रहा होगा । इस में कहां तक सच्चाई है, कहा नहीं जा सकता परन्तु एक बात ज़रूर है कि इस गोम्पे में अभी भी काले पत्थर की काली की एक मूर्ति है ।

इस गोम्पे की एक विशेष बात यह है कि यहां मिट्टी की नहीं बल्कि लकड़ी की बनी मूर्तियां हैं । लाहुल में जितने भी गोम्पे है सभी में लकड़ी की मूर्तियां बहुत ही कम देखने को मिलती हैं । ऐसा विश्वास किया जाता है कि लकड़ी की इन मूर्तियों की स्थापना लगभग 800 साल पहले किन्नौर के एक लामा रिन्छेन ज़ाङ्पो ने की थी ।

इस गोम्पे में भगवान बुद्ध पद्मसंभव और नवाङ नमग्याल की मूर्तियां भी हैं ।

शशुर गोम्पा.—शशुर गांव केलांग के उत्तर की ओर स्थित है । कारदङ और घण्डाढ गोम्पों की तुलना में शशुर गोम्पा कोई खास पुराना नहीं है । विश्वास किया जाता है कि इस गोम्पे की स्थापना सतरहवीं शताब्दि में लद्दाख के एक लामा दवा ग्यात्छो ने की थी जिसकी मूर्ति अभी भी इस गोम्पे में सुरक्षित रखी हुई है । इस गोम्पे की विशेष बात जून महिने में मनाया जाने वाला मेला है जिसे "छेशु" के नाम से जाना जाता है और जिसका मुख्य आकर्षण "छम नृत्य (Devil Dance)" है जिसमें नर्तक मुखौटा पहने विभिन्न प्रकार का अभिनय करते हैं । इस गोम्पे के भी कई "मने लाक्खोर" देखने को मिलते हैं ।

इनके अतिरिक्त लाहुल में और भी कई छोटे छोटे गोम्पे हैं , परन्तु विशेष महत्व की कोई बात उन में नहीं है ।

यहां पर हम ड्रिल्बू पहाड़ की 'कोरो' (परिक्रमा) की बातें भी कर लें तो अनुचित नहीं होगा । ड्रिल्बू कोरो गोम्पों के दर्शन करने से भी ज्यादा पवित्र माना जाता है । ड्रिल्बू कोरो के लिए कारदङ से होकर जाते हैं और पहाड़ के दूसरी ओर गूफला गांव में पहुंचते हैं । पहाड़ के ऊपर चढ़ने पर यात्रिओं को दो और पहाड़ी चोटियां दिखाई देती हैं । एक को धर्म की चोटी तथा दूसरी को पाप की चोटी कह कर जाना जाता है । लम्बाई की दृष्टि से धर्म की चोटी पाप की चोटी से कुछ छोटी है और इसका कारण दुनियां में पाप का दिन प्रतिदिन विस्तार होना बताया जाता है । कहते हैं किसी ज़माने में धर्म की चोटी पाप की चोटी से कुछ ऊंची थी क्योंकि उस वक्त धर्म का बोलबाला था ।

—सहायक निदेशक,
लेबर ब्यूरो, शिमला ।

Scanned with CamScanner

पर्वतीय क्षेत्र और महाभारत काल में बहुपति प्रथा

— सत्यपाल शर्मा

रामायण और महाभारत कालीन संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय प्रायः कह दिया जाता है कि रामायण कालीन समाज ऊंचे आदर्शों से सम्पन्न था। महाभारत काल तक आते आते वह असंख्य सामाजिक विकृतियों से आक्रान्त हो गया था तथा अब जीवन की वह आदर्शात्मक भित्ति खिसक चली थी जिसका आश्रय पाकर सीता जैसी पतिव्रता नारियां जन्म लिया करतीं थीं। उदाहरण दिया जाता है—कुरुकुलोत्पन्न पाण्डव राजकुमारों तथा द्रौपदी के विवाह का। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० रमेश चन्द्र मजूमदार ने लिखा है कि 'महाभारत में अनेक आपत्तिजनक व्यवहारों और रीति रिवाजों का उल्लेख है जो हिन्दू समाज के विकास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। द्रौपदी का पांच पतियों से विवाह बहुपतित्व की प्रथा की ओर संकेत करता है[1]। डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने महाभारत युग की सामाजिक अवस्था की वैदिक युग से तुलना करते हुए लिखा है कि "वैदिक युग से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि इस युग में स्त्रियों की स्थिति गिर चुकी थी। यहां (महाभारत में) सती प्रथा का उल्लेख हुआ है और बहुपतित्व प्रथा के रूप में प्रचलित था।[2] डा० यशवन्त सिंह परमार ने अपनी पुस्तक 'पालिएण्डरी इन द हिमालयाज' में हिमाचल प्रदेश के सिरमौर, बुशहर, रोहड़ू किन्नौर सिराज, लाहौल, आदि अंचलों में प्रचलित बहुपति प्रथा के कारणों का विवेचन करते हुए कहा है कि भारत में प्रचलित एक प्राचीन परम्परा के कारण भी बहुपति प्रथा यहां बनी रही। पाण्डव परम्परा ने यहां लोगों की नैतिकता और सामाजिक दृष्टि का निर्धारण किया है। मैदानी भूभागों में रहने वाले एक विवाही (मॉनागेमस) लोगों की व्यंग्योक्तियों एवं आक्षेपों के बावजूद ये लोग बहुपति प्रथा अपनाए हुए हैं।[3] एक अन्य स्थल पर मान्य लेखक ने कहा है कि यहां के लोगों का दृढ़ विश्वास है कि यह प्रदेश अर्जुन आदि पाण्डवों की कर्मभूमि रही है अतः वे अपने पूर्वजों में प्रचलित इस प्रथा का अनुसरण करते रहने में गौरव का अनुभव करते हैं। डा० महोदय का कथन अक्षरशः सत्य है और इस से बहुपत्वि को अङ्गीकार करने वाले वर्गों की इस सम्बन्ध में हीनभावमुक्त दृष्टि का पता लगता है परन्तु पाण्डवों के साथ सम्बन्ध होने का जनविश्वास सम्भवतः श्रद्धाजनित अधिक है। किसी ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव में हम इन वर्गों को महाभारत युग से नहीं जोड़ सकते। यदि ऐसा कोई सम्पर्कसूत्र मिल भी जाए तो भी महाभारत युग के एक अपवाद को वर्तमान काल की किसी जीवन्त परम्परा से जोड़ना समीचीन प्रतीत नहीं होता। उत्तर प्रदेश के जौनसार बावर में भी बहुपतित्व अपनाने वाले वर्ग अपने को कौन्तेय पुत्र कह कर महाभारत से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः किसी रिवाज की सफाई प्रस्तुत करने के लिए किसी प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति सब जगह पाई जाती है और इस के मूल में कभी कभी कोई हीन भाव भी काम करता दिखाई देता है।

इस में सन्देह नहीं कि द्रौपदी का विवाह युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव इन पांच भाइयों से हुआ था; महाभारतकार ने यथा-अवसर और यथा समय स्पष्ट शब्दों में इस का वर्णन किया है। उस समय यह

1. प्राचीन भारत —डा० रमेशचन्द्र मजूमदार, पृष्ठ 169।
2. History of Ancient India—R. S. Tripathi—page 72
3. Polyandry in the Himalayas—Dr. Y. S. Parmar—page 147

कोई अद्भुत रहस्यमयी या गोपनीय बात नहीं मानी गई थी। इसलिए इस के कारण न तो किसी पात्र में कुण्ठा उत्पन्न हुई और न किसी अपराध भावना ने ही जन्म लिया। स्वयं द्रौपदी को इस बात का कोई पश्चाताप नहीं हुआ। क्रूरकर्मा दुराचारी दुःशासन जब उस का वस्त्र खींचता है तो वह स्पष्ट कहती है कि मेरे पति पराक्रमी राजकुमार तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे।[1] वह अपने मन के क्लेश को प्रकट करती हुई कहती है—"मैं पाण्डवों की पत्नी धृष्टद्युम्न की सुशीला बहन तथा वासुदेव श्री कृष्ण की प्रियसखी हो कर राजाओं की इस सभा में कैसे लाई जा सकती थी?[2]" भीष्म पितामह भी पांच पाण्डवों की पत्नी के रूप में उस का यथोचित सम्मान करते थे।[3] वनपर्व तथा विराट पर्व में बीसियों ऐसे स्थल मिलते हैं जहां अपनी शोचनीय स्थिति पर विलाप करती हुई वह इस बात पर खेद प्रकट करती है कि देवतुल्य, धर्मात्मा और पराक्रमी पांच पतियों के जीते जी वहां तिरस्कृत और अपमानित होती हुई इस प्रकार का गर्हित दीन हीन जीवन व्यतीत कर रही है। द्रौपदी कोई साधारण स्त्री पात्र नहीं। अपार रूप संपदा, दुर्धर्ष तेजस्विता, दीप्त नारीत्व, पुञ्जीभूत स्वाभिमान तथा परमोज्ज्वल चरित्र निष्ठा की वह साक्षात् प्रतिमा है। उसका ओजस्वी चरित्र इस महाकाव्य के कथा-विकास में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। ऐसे पात्र के साथ ही उपर्युक्त सामाजिक विडम्बना जुड़ी है। इस से यह स्पष्ट है कि द्रौपदी एक विशिष्ट और असाधारण पात्र है और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली परिस्थितियां भी लोक-सामान्य नहीं।

महाभारत काल में भी सतीत्व स्त्री मात्र का आदर्श था। पतिव्रता नारियों की उस समय भी कमी नहीं थी। एक पत्नीव्रती पुरुष और एक पति से ही अटूट निष्ठापूर्ण सम्बन्ध रखने वाली स्त्रियां भी कम न थीं। द्रौपदी पतिव्रता थी परन्तु उस के पांच पति थे। यह एक अपवाद था पुराने समय से चली आने वाली रूढ़ परम्परा न थी : उस समय भी लोगों को श्रुतियों द्वारा स्थापित इस मर्यादा का बड़ा ध्यान रहता था कि कन्या का विवाह एक वर से ही हो। आदि पर्व में राजा द्रुपद का कथन है—एक राजा की बहुत सी पत्नियां हों ऐसा तो प्रायः सुनने में आता है परन्तु यह कहीं भी नहीं सुना जाता कि एक स्त्री के अनेक पति हों[4]।-यह बात लोकमर्यादा और वेद दोनों के विपरीत है। इस में अधर्म है।[5] महाभारत के आदिपर्व में यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि यदि बहुत से पुरुषों की एक ही पत्नी हो तो इस में सन्तानसंकरता के दोष की आशंका बनी रहती है।[6] महर्षि व्यास के वचनों से भी यह लोक और वेद विरुद्ध आचरण ही प्रतीत होता है।[7] इस प्रकार की कोई पुरातन परम्परा भी नहीं है तथा किसी भी पूर्ववर्ती राजा ने इस प्रकार का आचारण नहीं किया। पुराने इतिहास में इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं मिलता। बड़ा भाई छोटे भाई की पत्नी के साथ पत्नी जैसा व्यवहार कैसे कर सकता है। महाभारत में कई बार कहा गया है कि छोटे भाई की पत्नी बहिन, पुत्रवधु तथा अपनी पुत्री ये चारों एक जैसी होती हैं। महात्माओं तथा तपस्वियों के प्रवचनों में इस प्रकार की मर्यादा का बार बार बखान हुआ है परन्तु इस के विरुद्ध पुराणों में कुछ अपवाद भी मिलते हैं। धर्माचरण करने वालों में श्रेष्ठ गौतम गोत्र की कन्या जटिला न सात ऋषियों का पति रूप में वरण किया था तथा

1. न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः सेन्द्राश्च देवा यदि ते सहायाः। सभापर्व 67–37।
2. कथम् हि भार्या पाण्डूनां . . . . ॥ सभापर्व 69–10
3. धर्म्यान्मार्गान्निच्यवन्ते येषां नस्त्वं वधू स्थिता ॥ सभापर्व 69–18।
4. एकस्य बह्वयो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
   नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित। (आदिपर्व 194–27)
5. लोकवेद विरुद्धंत्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः। कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी ॥ आदि० 194-28
6. कथं एकाबहूनांस्यात् धर्मपत्नी न संकरः
7. अस्मिन् धर्मे विप्रलब्धे लोक वेद विरोध के ॥ (आदिपर्व 195–6)।

कुछ कुण्डु मुनि की पुत्री वार्क्षी ने तपस्या से पवित्र अन्तःकरण वाले दस प्रचेताओं के साथ जिन का एक ही नाम था और जो आपस में भाई भाई थे विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था ।[1] पाण्डवों की माता कुन्ती को भी विदित था कि बहुपतित्व निन्दित कर्म है इसलिए जब भीम और अर्जुन राजा द्रुपद के स्वयंवर यज्ञ मण्डप से द्रौपदी को अपने निवास स्थान पर लाए और अपनी मां से बाहर से ही कहा कि हम भिक्षा लाए हैं तो उसने पूर्व अभ्यास वश कह दिया कि पांचों भाई मिल कर खाओ परन्तु बाद में जब उसे पता चला कि यह भिक्षा का अन्न नहीं, है तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ । कुन्ती देवी अधर्म के भय से पीड़ित हुई और उस चिन्ता से मुक्त होने का उपाय सोचने लगी । इस प्रसंग से भी स्पष्ट है कि बहुपतिपत्व उस समय अधर्म माना जाता था और साधारण लोग इस सामाजिक दोष से यथा संभव बचते थे ।[2] कुन्ती को अपने किए पर बड़ा पछतावा हुआ था और वह सोच रही थी कि किस उपाय से कृष्णा पापमुक्त रह सकती है ।[3] उक्त प्रमाणों से द्रौपदी के बहु-पतित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता परन्तु माता कुन्ती द्वारा उसे विवाहोपरान्त दिए गए आशीर्वाद से एक पति एक पत्नी का वैवाहिक आदर्श ही मुखर होता है । यहां द्रौपदी का दाम्पत्य इन्द्राणी-इन्द्र, स्वाहा-अग्नि रोहिणी-चन्द्रमा, दयमयन्ती-नल भद्रा-कुबेर, अरुन्धती-वसिष्ठ तथा लक्ष्मी-नारायण सरीखे जोड़ों के समान सुन्दर सौहार्द्रपूर्ण सौमनस्यमय और आह्लाद दायक होने की कामना की गई है ।[4]

पाण्डवों के प्रति कर्ण के आक्षेपपूर्ण वचनों में भी एक स्थान पर यही प्रसंग उछाला गया है । कर्ण ने द्रौपदी तथा पाण्डवों के चरित्र पर बड़ा तीव्र आक्षेप किया था । उस ने कहा कि मैंने मनुष्यों में जिन सुन्दरी स्त्रियों के नाम सुने हैं उन में से किसी ने भी ऐसा अद्भुत कार्य किया हो यह मेरे सुनने में नहीं आया ।[5] दो पक्षों में होने वाले झगड़े में हमेशा ऐसे प्रसंग छांटे जाते हैं जिन से प्रतिपक्षी के छिद्रों का प्रचार हो । द्यूतपर्व में कर्ण ने अत्यन्त विक्षेपयुक्त आवाज में कहा था—'देवताओं ने यह व्यवस्था की है कि स्त्री का एक ही पति हो। यह द्रौपदी अनेक पुरुषों की वंशानुवर्तिनी होने के कारण वेश्या है अतः इसे भरी सभा में लाना बिल्कुल अनुचित नहीं है । यह एकवस्त्रा हो अथवा विवस्त्रा इस में कोई फर्क नहीं पड़ता ।[6] अन्यत्र कई बार कहा गया है कि धर्म

1\. (क) श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी ।
ऋषिणा ध्यासितवती सप्तधर्ममृतां वरा ॥(आदि पर्व 195–14)

(ख) तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मन: । संगताभूद दशभ्रातृनेकनाम्न: प्रचेतस: ॥ (आदि पर्व 185—15) ।

2\. पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां, कष्टं मया भाषितमित्युवाच । (आदिपर्व 19–2) ।
इयंतुकन्या द्रुपदस्यराज्ञ: तवानुजाभ्यां मयि सन्निविष्टा ।
यथोचित पुत्र मयापिचोक्तं समेत्य भुंक्तेति नृप प्रमादात । : (आदि पर्व 190–4) ।

3\. आदिपर्व 190–5

4\. आदिपर्व –198–5.6 ।

5\. यान: श्रूता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मता: ।
तासां एतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ (सभापर्व 72—2) ।

6\. एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहित: कुरुनन्दन ।
इयं तु अनेकवशजा बन्धकीति विनिश्चिता ॥
अस्या सभामानयनं न चित्रमिति मे मति: ।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ॥ (सभापर्व 68–35.36) ।

की गति बड़ी सूक्ष्म है । साधारण जन के लिये यह निर्णय कर पाना बड़ा कठिन है कि बहुपतित्व उचित है या अनुचित । राजा द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा कुन्ती इस विषय में कुछ भी कह सकने में असमर्थ हैं । युधिष्ठिर चूंकि धर्म का सूक्ष्म तत्व समझते हैं इसलिए वह इस विषय में स्पष्ट और निर्भ्रान्त मन्तव्य प्रकट करते हैं । वह कहते हैं—'मैंने कभी झूठ नहीं बोला और न अधर्म पे ही मेरी कभी प्रवृत्ति हुई है । चूंकि मेरी प्रवृत्ति इस विवाह में है इस लिए मैं समझता हूं इस में कोई अधर्म नहीं ।[1] युधिष्ठिर द्वारा अन्तःकरण की प्रवृत्ति को प्रमाण मानने की बात, इस विषय में किसी भी प्रचलित परम्परा का निषेध कर देती है । धर्मराज के इस कथन से हमें कालिदास के दुष्यन्त का स्मरण हो आता है जो सन्देहास्पद विषयों में अन्तःकरण की वृत्ति को ही प्रमाण मानते थे । (सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तय:—अभिज्ञान शाकुन्तलम् अंक–1, श्लोक 20) वैसे इस संकटापन्न स्थिति से निस्तार पाने के लिए युधिष्ठिर ने स्थान स्थान पर जो मन्तव्य दिए हैं उनका निष्कर्ष इस प्रकार है—

1. द्रौपदी का रूप-लावण्य सब भाइयों के लिए रुचिकर है अतः उस के प्रति सब का आकर्षण स्वाभाविक है । (उस से विवाह सम्बन्ध परम्परा प्रेरित नहीं) ।
2. द्वैपायन वेदव्यास के वचनों की साक्षी से ज्ञात होता है कि एक पूर्व निश्चित विधान के अनुसार कृष्णा पांचों भाइयों की भार्या निश्चित की गई है (यह दैवी विधान है, लौकिक नहीं) ।
3. द्रौपदी के कारण भाइयों की एकता भंग न हो जाए । इसलिए भी पांचों भाई उस से विवाह करें । (अब्रवीत सहितान भ्रातृनन मियोभेदभयानृप: । सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि न: शुभा : ॥ आदिपर्व 19–16) ।
4. चूंकि धर्मनिर्णय के लिए कोई वस्तुपरक दृष्टि विकसित नहीं हुई अतः द्रौपदी से हम पांचों भाइयों का विवाह अधर्म नहीं कहा जा सकता ।
5. शास्त्र की अपेक्षा महापुरुषों का चलन अधिक प्रामाणिक और अनुकरणीय होता है । जटिला और वार्क्षी का बहुपतित्व उदाहरण है (किसी प्राचीन स्मृत्यावशेष के आधार पर बहुपतित्व का औचित्य सिद्ध किया गया है) ।
6. शास्त्र वचन की अपेक्षा चित्तवृत्ति अधिक प्रामाणिक होती है ।
7. गुरू की आज्ञा सर्वमान्य होती है और मां सब से बड़ी गुरू होती है । हमें मां ने आज्ञा दी है कि कृष्णा से हम सब विवाह करें ।

युधिष्ठिर के वक्तव्यों से प्रमाणित होता है कि महाभारत युग में बहुपतित्व सर्वमान्य प्रथा या सर्वदेशीय कर्म नहीं था, पाण्डवों के लिए यह सामयिक धर्म भले ही हो, युद्धों की विभीषिका, भविष्य की अनिश्चितता तथा आतंक और अराजकता के समय में भाइयों की पारस्परिक एकता और द्रौपदी की सुरक्षा दोनों ज़रूरी थे ।

राजा द्रुपद की यह अभिलाषा थी कि वह अपनी पुत्री का विवाह पाण्डुकुमार से करें ।[2] यहां 'कौरवाय' यह चतुर्थीएक वचन पद ध्यान देने योग्य है । युधिष्ठिर से भी द्रुपद ने यही कहा था कि अर्जुन आज के पुण्य दिवस में मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें ।[3] जब युधिष्ठिर ने कहा कि राजन ! विवाह तो मेरा भी होगा । तब द्रुपद

1\. न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मति: ।
वर्तते हि मनोव मेऽ नैषोऽधर्म: कथंचन ॥ (आदि पर्व 195—13) ।

2\. स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ।

3\. गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दन: ।
पुण्येऽहनि: महाबाहुरर्जुन: कुरुतां क्षणम् ॥ (आदिपर्व 194–20) ।

ने स्पष्ट कहा कि चाहे तो कृष्णा से आप विवाह करें, चाहे अपने चारों भाइयों में से किसी एक के साथ कर दें। विख्यात समाजशास्त्री डा0 इरावती कर्वे ने अपनी पुस्तक 'भारत में बन्धुत्व संगठन' में लिखा है कि धृष्टद्युम्न को अपनी बहिन के पांच पाण्डवों के साथ विवाह में इस लिए आपत्ति नहीं थी कि बहुपतित्व उस की दृष्टि में कोई निन्दित या शास्त्रविरुद्ध कर्म था बल्कि इसलिए कि बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का विवाह लोक और शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध था (युधिष्ठिर ने राजा द्रुपद से कहा था—'अहं चाप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः।) उसे वस्तुतः यह आपत्ति थी कि बड़ा भाई सदाचारी होते हुए भी छोटे भाई की स्त्री के साथ कैसे यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। डा0 कर्वे के शब्दों में—"इस आपत्ति का समाधान द्रौपदी का विवाह सब से पहले बड़े भाई के साथ और फिर आयु के सिलसिले से एक के बाद दूसरे के साथ करके किया गया।[1] क्या छोटे भाइयों को बड़े भाई की पत्नी के साथ यौन सम्बन्ध के अधिकार प्राप्त थे? महाभारत में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। धृष्टद्युम्न ने यह कहा था कि धर्म का तत्व इतना गूढ़ है कि हम जैसे साधारण लोगों का इस विषय में कुछ निर्णय करना असंभव है अतः हम पांच भाइयों के साथ द्रौपदी के विवाह की आज्ञा नहीं दे सकते।[2] इस सन्दर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रमाण भी महाभारत में उपलब्ध होता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि एक कन्या, एक पुरुष, यही उस युग का एक मान्य आदर्श था। द्रौपदी के पांच पाण्डवों के साथ पाणि-ग्रहण होते समय एक अद्भुत अलौकिक एवं उत्तम घटना हुई—वह सुमध्यमा महानुभावा द्रौपदी प्रति बार विवाह के दूसरे दिन कन्याभाव को ही प्राप्त हो जाती थी। यह एक मनोवैज्ञानिक बात है जिस से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक भारत में भी कुछ अंचलों में बहुपति प्रथा चल रही है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इस का मूलस्रोत कहां था और यह कब से चल रही है। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय भागों, जौनसार बावार, हिमाचल प्रदेश के लाहौल, सिरमौर (गिरिपार), बुशहर, सिराज, पांगी तथा किन्नौर और जम्मू-काश्मीर के लद्दाख में इस समय यह प्रथा चल रही है। उक्त अन्तरङ्ग प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि महाभारत से इस का कोई सम्बन्ध नहीं। फिर भी कुछ भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत तथा वेदों में इस प्रथा के प्रमाण खोजने का प्रयत्न किया है। डा0 परमार ने अपनी पुस्तक 'पालिएण्डरी इन द हिमालयाज' में ऐसा कोई दावा न करते हुए भी एक पश्चिमी विद्वान ब्रिफाल्ट का साक्ष्य प्रस्तुत किया है[3] जिन्होंने लिखा है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में बहुपति प्रथा के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। यदि यह बात हम स्वीकार कर लें तो महाभारत में बहुपतित्व की इस एक घटना को परम्पराप्राप्त प्रथा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि न तो ऋग्वेद में और न अथर्ववेद में ही ऐसा कोई संकेत मिलता है। मरुतों और रोदसी का आख्यान[4] विद्वानों को लोक कल्याण की शिक्षा देता है। रोदसी कोई स्त्री नहीं बल्कि धरती और आकाश है। इस से अगले मंत्र में स्त्री को पतिकुल की वृद्धि और विकास की प्रेरणा दी गई है। इसी सूक्त

1. भारत में बन्धुत्व संगठन –डा0 इरावती कर्वे, पृष्ठ 62—हरियाणा ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन।
2. न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद गतिम् विद्म कथंचन।
अधर्मो धर्म इति व व्यवसायो न शक्यते॥
कर्तुमस्मद्वि धैर्ब्रह्मंस्ततोऽप्ययं न व्यवस्यते।
पंचानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन्॥ (आदि पर्व 195–11,12)।
3. Polyandry in the Himalyas–Dr. Y. S. Parmar, Page—80
4. ऋग्वेद मं0—1 सू0 167–4।

के छठे मन्त्र में सुशिक्षित युवाओं को संबोधित कर कहा गया है कि 'आप शुभ गुण कर्मयुक्त एवं धर्म युक्त व्यवहारों वाली युवती से विवाह करें।[1]' इन मन्त्रों में बहुपतित्व के संकेत खोजना बड़ी भूल है। अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड का द्वितीय सूक्त दाम्पत्य सम्बन्धों की पूर्णता पर अच्छा प्रकाश डालता है। 18 वें मन्त्र में वधू से कहा गया है कि तू यहां पति को न सताने वाली (अपतिघ्नी) देवरों को कष्ट न देने वाली (अदेवृघ्नी) नियम वाली, तेजस्विनी, श्रेष्ठ सन्तानयुक्त और देवरों से प्रीति करने वाली (देवृकामा) हो देवृकामा में 'देवृ' शब्द पति के भाइयों के लिये है। भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ विदेशी लोग भले ही देवर को सहपति समझें परन्तु वस्तुस्थिति इस के विपरीत है। हां, बड़े भाई की मृत्यु पर देवर भाभी से विवाह कर सकता है। धर्मशास्त्र यह अनुमति तो देते हैं परन्तु सहपतित्व का अनुमोदन नहीं करते। इसी सूक्त के द्वितीय मंत्र में पति के दीर्घायु होने की कामना की गई है। छटे मन्त्र में 'शुभस्पती' (शुभ क्रियाओं के रक्षक तुम दोनों) पतिपत्नी के युग्म के लिए आया है। 7 वें मंत्र मे भी स्पष्टतः एक पति का उल्लेख है। 9 वें तथा 11 वें मन्त्र में 'दम्पती शब्द मिलता है जो एक पति की सूचना देता है। 12 वें मन्त्र में 'पतिभ्यः' शब्द स्पष्टतः पति-कुल के लिए आया है न कि पतियों के लिए। 39 वें मन्त्र में 'मोदमानौ' क्रिया पतिपत्नी दोनों के लिए आई है। 38 वें मन्त्र में कहा है—'यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति' अर्थात जिस स्त्री में मनुष्य गर्भाधान क्रिया करते हैं। यहां मनुष्य शब्द एक पत्नी के बहुत से पतियों के लिए नहीं आया बल्कि यहां मनुष्य मात्र में प्रचलित एक सामान्य क्रिया की ओर संकेत किया गया है। 'यस्यां' पद भी नारी मात्र के लिये है एक पत्नी के लिए नहीं। श्रीमद्भागवत्, अग्निपुराण और विष्णुपुराण में वर्णित प्रचेताओं का आख्यान इतना प्रतीकात्मक है कि इस में किसी सामयिक परम्परा का संकेत पाना बुद्धि संगत प्रतीत नहीं होता। महाभारत में वर्णित तिलोत्तमा और सुन्द-उपसुन्द का आख्यान किसी परम्परा का आभास नहीं देता। जटिला और ममता के बहुपतित्व स्पष्टतः किन्हीं प्राचीन स्मृतियों के अवशेष हैं जिन का महाभारत में कोई विशेष महत्व नहीं है। इस के अतिरिक्त महाभारत का सारा देवपरिवार युग्मों में है। हमारे पर्वतीय प्रदेशों में प्रचलित बहुपति प्रथा का कारण जैसा कि डा0 डी0 एन0 मजूमदार[3] ने कहा है, अधिकतर आर्थिक ही है।

पाण्डव अपनी दिग्विजय के दौरान तथा द्वादशवर्ष के अरण्यवास में इन पर्वतीय प्रदेशों में रहे तो अवश्य थे परन्तु द्रौपदी के बहुपतित्व का इन पर प्रभाव पड़ा होगा, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः सम्पत्ति को रोकने के लिये सब भाई यहां मिल कर रहते हैं। अलग अलग विवाह कर अलग अलग सन्तान उत्पन्न कर परिवार प्रायः बंट जाते हैं। उन के बीच का सम्पर्कसूत्र कट जाता है। उन के स्वार्थ भी अलग-अलग हो जाते हैं। अतः प्रत्येक छोटा परिवार स्वच्छन्द और मुक्त जीवन जीने की कामना करता है। फिर विशेषतः पहाड़ी इलाकों में ही इस प्रथा का प्रचलन होने का एक कारण है–बाह्य प्रभाव से मुक्त, यहां का समष्टि प्रधान जीवन तथा कृषि कर्म के लिये भूमि की कमी। खेती के लिये यहां नयी ज़मीनें नहीं मिल सकतीं। नौतोड़ तैयार करने के लिये यहां सख्त परिश्रम की आवश्यकता होती है जिस के लिए बड़े संगठित और सशक्त परिवार की आवश्यकता होती है। औद्योगीकृत सामाजिक इकाइयों में आजीविका के साधनों की बहुतायत रहती है तथा प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और निरपेक्ष रहता हुआ अपना और अपने परिवार का भरणपोषण कर सकता है। परन्तु कृषिप्रधान और अयंत्रीकृत कृषि व्यवसायों को अपनाने वाले पर्वतीय समाज में निरपेक्ष, निरंकुश और निर्द्वन्द्व जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। जलवायु की कठोरता और आवागमन के साधनों की कमी भी इस प्रथा के बने रहने का एक कारण रही होगी। परन्तु इस प्रथा के कारण एक खतरा भी महसूस किया जाने लगा है और लद्दाख के बौद्धों ने इसे अनुभव करना शुरू कर दिया है। कर्गिल तथा लद्दाख तहसीलों में मुसलमानों

1. आस्थापयन्त युवतियुवानः शुभे निमिश्लां विदेयपुपज्राम।
2. पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥
अथर्ववेद काण्ड 18, सू0 2 मन्त्र 2।
3. Himalyan Polyandry–D. N. Majumdar.

Scanned with CamScanner

की संख्या बढ़ी है जब कि बौद्धों की घटी है । जन संख्या का सन्तुलन बिगड़ने लगा है । हिमाचल प्रदेश त जौनसार बावर में आधुनिक शिक्षा के प्रसार से इस प्रथा का अन्त होता जा रहा है । संभवतः आने वाले व में इन भूभागों का आर्थिक विकास यहां के निवासियों के लिए आजीविका के नए और वैकल्पिक साधन उपल करा दे और फलस्वरूप इस प्रथा का अन्त हो जाए । डा0 बंशी राम शर्मा ने किन्नर लोक जीवन और साहि पर जो शोध किया है वह अपेक्षाकृत अधिक वस्तुगत और प्रामाणिक है और इसमें वह इस निष्कर्ष पर प हैं कि यहां बहुपति प्रथा उत्तरोत्तर घट रही है ।[1]

महाभारत के आदिपर्व में एक और बड़ी महत्वपूर्ण बात लिखी मिलती है । बहु-अपत्यता आज की तरह पह की तरह पहले भी एक दोष ही मानी जाती थी । कुन्ती ने तीन पुत्रों की कामना की थी और माद्री केवल दो ही उत्पन्न किए थे । राजा पाण्डू चाहते थे कि कुन्ती और सन्तान उत्पन्न करे परन्तु उस ने शा की साक्षी से, अधिक सन्तान उत्पन्न करने का निषेध किया । वह कहती थी कि 'अत्यन्त आपत्तिकाल में भी ती से अधिक सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिये । चौथी सन्तान चाहने वाली स्त्री 'स्वैरिणी,' और पांचवी की काम करने वाली 'बन्धकी' कहलाती है । आप विद्वान होते हुए भी मुझे धर्म-विरुद्ध आचरण के लिए प्रेरित रहे हैं ।[2] आदि पर्व में ही पितामह और देवताओं के संवाद में इस बात का संकेत मिलता है कि बढ़ी आबादी राष्ट्र के विनाश की आशंका उत्पन्न कर देती है । सूर्यपुत्र यम जीवन और मृत्यु में सन्तुलन बनाए रख के लिए प्रजाओं का नियमन करते हैं परन्तु एक बार जब वह एक यज्ञ में व्यस्त हो गए तो उन का नियम का कार्य रुक गया । तब किसी की मृत्यु ही नहीं होती थी और जन्म दर निरन्तर बढ़ती जा रही थी । आ पर्व के इसी प्रसंग में आगे चल कर द्रौपदी के पूर्वजन्म की कथा कही गई है जिस से संकेत मिलता है कि ब हुई जनसंख्या और बहुतपतित्व में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि यह संकेत बड़ा सूक्ष्म है महाभारत के आदिपर्व में द्रौपदी की दैवी उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । राजा द्रुपद ने याज और उपया नाम के दो ऋषियों का सत्कार कर दो सन्तानों की कामना की थी—एक पुत्र जो द्रोणाचार्य का वध कर स तथा एक पुत्री जो सव्यसाची अर्जुन के साथ व्याही जा सके । महर्षि याज ने द्रुपद के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ कि और धृष्टद्युम्न तथा कृष्णा उत्पन्न हुए ।[3] चैत्ररथ पर्व में कृष्णा के जन्म का बड़े विस्तार से वर्णन कि गया है । वह द्रुपद की अयोनिज कन्या थी । उस का नाम पांचाली पड़ा । उसे कृष्णा भी कहा गया क्योंि वह श्याम रंग की थी । यज्ञ वेदी से उस का प्रादुर्भाव हुआ था । उस का रूप और आकार भी देवी का था । व साक्षात् दुर्गा प्रतीत होती थी और उसके शरीर से प्रकट हो कर कमल की सी सुगन्ध एक कोस तक चा ओर फैल रही थी । पृथ्वी पर वह अप्रतिम और अनुपम सुन्दरी थी । उस देवोपम कन्या को पाने के लि देवता, दानव और यक्ष लालायित थे । उस के यज्ञ-वेदी से प्रकट होते ही आकाशवाणी हुई—'यह कृष्णा ज समस्त युवतियों में श्रेष्ठ और सुन्दरी है क्षत्रियों के विनाश का कारण बनेगी । यह समय आने पर देवताओं क कार्य करेगी । इस के कारण से कौरवों को महान भय उत्पन्न होगा । कृष्णा के जन्म-सम्बन्धी इस आख्या से स्पष्ट होता है कि वह कोई सामान्य नारी नहीं थी । पाण्डव राजकुमारों से उस का पूर्वजन्म का सम्ब बताया गया है । वैवाहिक पर्व के 166 वें अध्याय में कहा गया है कि पूर्व जन्मों में कृष्णा ने पांच इन्द्रों क वरण किया था । वह स्वर्ग लोक की लक्ष्मी थी ।[4] पांचों पाण्डव पहले इन्द्र रह चुके थे । कृष्णा पहले ही उन पत्नी नियत हो चुकी थी । एक दैवी विधान के अनुसार ही धरती पर उसका प्रादुर्भाव हुआ था । यदि यह देवविधि

1. किन्नर लोक साहित्य—डा0 बंशी राम शर्मा, ललित प्रकाशन, लेहड़ी सरेल, बिलासपुर (हि0 प्र0), पृष्ठ 284
2. आदिपर्व 122—77.78 ।
3. आदिपर्व 166—पृष्ठ 493 (महाभारत-गीता प्रैस प्रकाशन) ।
4. आदिपर्व 166—44, 45 ।

Scanned with CamScanner

कार्य न होता तो अग्नि की लपटों से यह रूपाम्बरा प्रकट न हुई होती । वस्तुतः यह सारी कथा यहां पर एक सशक्त प्रतीक के रूप में उतरती प्रतीत होती है । इस से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि पाण्डव राजकुमारों से द्रौपदी का विवाह किसी पुरानी विवाह प्रथा का सूचक नहीं । अतः इस से यह निष्कर्ष निकालना कि महाभारतकालीन समाज में मर्यादा का लोप होता जा रहा था युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । पाण्डव लोग असामान्य परिस्थितियों में जीवनयापन कर रहे थे । संभवतः युद्धों की विभीषिका, और असुरक्षा के वातावरण के कारण तथा यायावर वृत्ति के लिये विवश हुए पाण्डवों को द्रौपदी का बहुपतित्व समयोजित लगा हो । उन्हें दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासन के हाथों जो कष्ट सहन करने पड़े थे उन्हें देखते हुए इन भाइयों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध बनाए रखना समय की आवश्यकता थी, आपद्-धर्म था । अर्जुन ने अपनी विजय-यात्राओं के दौरान कुछ अन्य कन्याओं से भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए थे । इन में उलूपी और सुभद्रा मुख्य थीं । भीम, नकुल और सहदेव के भी अन्य विवाहों का वर्णन मिलता है । द्रौपदी में ही ऐसी क्या बात थी जो उस के साथ पांचों भाइओं का विवाह सम्बन्ध स्थापित हुआ । अन्य स्त्रियों के साथ ऐसा क्यों नहीं हुआ ! इस का उत्तर यही है कि यह एक अपवाद था तथा कोई भी अपवाद सामान्य नियम नहीं बना सकता । यह विवाह लोक-सामान्य नहीं था । इस में कोई भी आचार संहिता आड़े नहीं आती । द्रौपदी लोक विश्रुत पतिव्रता स्त्री थी । वह दीप्त और तृप्त नारीत्व का उत्स थी । उस जैसी तेजस्विनी और स्वाभिमानिनी नारी समूचे महाभारत में नहीं मिलती । भारत के इतिहास में शायद ही किसी नारी को इतना महत्व प्राप्त हुआ हो जितना द्रौपदी को हुआ । एक बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि महाभारत काल मे पर्वतीय क्षेत्रों में विभिन्न वर्गों के लोग निवास करते थे । उनमें से कुछ आर्य थे तथा अन्य कुछ अनार्य । पर्वतीय क्षेत्रों में बहुपति प्रथा के सारे सन्दर्भ का अध्ययन करने के लिए हमें इन क्षेत्रों के तत्कालीन सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करने की आवश्यकता है । प्रचलित बहुपति प्रथा को केवल पाण्डवों द्वारा अपनाई गई विवाह पद्धति पर आधारित बताना पर्याप्त प्रतीत नहीं होता ।

—प्राध्यापक,
राजकीय महाविद्यालय,
रामपुर बुशहर ।

हिमाचल के सन्दर्भ में—

हस्त शिल्प और लोक कलायें

—शाम सुन्दर जैतिक

हस्त शिल्प और लोक कलायें समानार्थक तो नहीं हैं परन्तु इनमें विशेष अन्तर भी नहीं है। लोक कलाओं को उपयोगी कलायें समझा जाता है और उतनी सीमा में वे ललित कलाओं से भिन्न हैं। ललित कलाओं को अवकाश के गर्भ से उपजी कहा जा सकता है, जब मानव को फुरसत होती है तो वह जीवन की सूक्ष्मताओं को उगाता है। इसके विपरीत हस्त शिल्प और लोक कलायें अवकाश से नहीं बल्कि जीवन के संघर्ष से उपजती हैं, अर्थात् प्रकृति के प्राङ्गण में रहते रहते मानव-समूह प्रकृति के ही उपकरणों के जोड़ तोड़ से अपने जीवन में सुख और सुविधा लाने के लिये कुछ हस्त शिल्प बनाता है। हस्त शिल्प और लोक कलायें परिस्थितिपरक हैं, भौगोलिक स्थिति के अनुसार उनका रूप बनता है और उसी के अनुसार उनकी संख्या घटती बढ़ती हैं।

हस्त शिल्पों और लोक कलाओं में अधिक व्यापक है–मिट्टी के बरतन बनाने की कला, धातुओं के बरतन बनाने की कला, घर की दीवारों और फर्श पर आलेखन करने की कला, कसीदाकारी, लकड़ी और चमड़े का काम, टोकरियां और चटाइयां बनाना इत्यादि, परन्तु इन सब के अनघड़ रूप को लोककला अथवा हस्त शिल्प नहीं कहते, जब कोरी उपयोगिता के अतिरिक्त इनमें कुछ सूक्ष्म आकर्षण भी आ जाये, तब इनकी संज्ञा हस्त शिल्प अथवा लोक कला हो जाती है।

आलेखन कला को 'फोक पेंटिंग' कहा जाता है। घर के दीवार, फर्श और दैनिक प्रयोग की वस्तुओं पर रंगों से चित्र बनाने के शिल्प को हम आलेखन कहते हैं। भारतीय जीवन में यह परम्परा बहुत पुरानी और स्थापित है। प्रारम्भ में यह आलेखन कला एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में आरम्भ हुई थी, परन्तु धीरे धीरे इसके आनुष्ठानिक पक्ष का लोप हो गया और यह आलेखन कला एक प्रकार से दिनचर्या का अंग बन गई। फर्श पर आलेखन को बंगाल और आसाम में 'अल्पन' कहते हैं। बिहार और कुमाऊं में येरिपन, कांगड़ा में आपन, राजस्थान में मण्डन, उत्तर प्रदेश में चौक पूरना, दक्षिण में कलम कहते हैं। भारत के अनेक जनपद ऐसे हैं जहां फर्श की सज्जा और आलेखन दिनचर्या का एक अनिवार्य अंग है। द्वार के पास फर्श की सज्जा इस ढंग से ध्यानपूर्वक की जाती है जिससे अतिथि का स्वागत यथोचित रूप से हो सके। फर्श के रंग-चित्रों में सार्थक प्रतीक बनाये जाते हैं। भोजन शाला में भी सुन्दर रंगचित्र और आलेखन बनाये जाते हैं। एक प्राचीन विश्वास है कि सुन्दरता और दिव्यता समानार्थक है। अतः विचारशील व्यक्ति अपने परिवेश में अच्छे और बढ़िया प्रतीकों वाले चित्र बनाना चाहता है। जब स्त्रियां आलेखन करती हैं तो वे गीत गाती हैं। उनके गीत उसी आनुष्ठानिक महत्व के साथ सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। त्योहारों और उत्सवों वाले अवसरों पर जो आलेखन बनाये जाते हैं उनके डिजायन और रूपांक बहुत मेहनत से तैयार किये जाते हैं। इन आलेखनों के बनाने के लिये चावलों का पेस्ट, गेहूं का आटा तथा मिट्टी और वनस्पति रंगों का प्रयोग किया जाता है। चित्रों के बनाने में हाथ की हथेली, ऊंगलियों के पपोट और हाथ की बन्द मुठी —ये तीन अपने अपने ढंग से काम करते हैं। विवाह के उत्सव पर "कामदा" नाम का आलेखन करने का कार्य नायन (नाई की पत्नी) द्वारा किया जाता है। कामदा का आलेखन काम-भावना को जागृत करने के लिये किया जाता है। रंग चित्रों के रूपांक प्रतीकात्मक होते हैं। अधिकतर रूपांक रेखा गणितीय शैली के होते हैं। शिवरात्री वाले दिन शिव के आसन के रूप में रंग चित्र से पीठ का निर्माण किया जाता है। दीपावली वाले दिन लक्ष्मी के आसन के रूप में "चौकी" का निर्माण भी फर्श पर रंग चित्र बनाकर किया जाता है। सरस्वती की चौकी अलग प्रकार की होती है। इसके मध्य में एक बिन्दु होता है। जिसका अभिप्राय निरपेक्ष सत्ता से है। उसके चारों ओर दायरे होते हैं जो विस्तार और प्रसार का द्योतन करते हैं। देवी को दो अन्तर्विष्ट तिकोनों से प्रतीकित किया जाता है और उसके चारों और तिकोने रूपांक के सोलह कमल दल होते हैं। चारों किनारों पर भी पान के पत्ते के रूपांक बनाये जाते हैं। शक्ति की देवी का नाम दुर्गा है। इसके रूपांक के मध्य में स्वस्तिक होता है। रूप रेखा पर नौ बिन्दु क्षितिज रूप में होते हैं और नौ लम्बमान रूप में इनके द्वारा दुर्गा के नौ रूपों के आह्वान किये जाने का प्रतीक है। सप्त ऋषियों और सप्त मातृकाओं के रूप बहुत सरल होते हैं। उधर दक्षिण कलमों में रेखागणितीय रूपांकों की बहुतायत होती है। प्रवाहमयी रेखायें और उसके साथ वानस्पतिक रूढ़ियों के रूपांक किसी गहरे प्रतीकात्मक अर्थ को सकार करते हैं। तुलसी पूजन के लिये बनाई जाने वाली तुलसी क्यारी कृष्ण जन्म दिन पर बनाई जाती है। झूले में एक शिशु और द्वार पर उसके पद-चिन्ह प्रतीकित किये जाते हैं। आंध्र प्रदेश में फर्श के रंग-चित्र को मुगलू कहते हैं। सप्ताह के प्रत्येक दिन का एक अलग प्रतीक होता है और वही प्रतीक फर्श पर बनाया जाता है। लक्ष्मी के श्री रूप की पूजा आंध्र प्रदेश में मुख्य रूप से होती है। कई रूपांकों को मध्य में श्री का प्रतीक बनाया जाता है। वहां श्री को रचना और सर्जनशीलता की देवी माना जाता है।

हस्त शिल्प का संगीत है—मृद शिल्प अर्थात् मिट्टी के बरतन बनाने की कला जिसे 'पौटरी' कहते हैं। भारतीय ऋषियों ने तो परमात्मा को भी कुम्हार की उपमा दी है। क्योंकि वह भी कुम्हार की तरह ही के मिट्टी के भाण्डे बनाता है जो कि अवसर आने पर टूट जाते हैं। जाति-विज्ञान के जेनेवा म्युज़ियम के एक प्रकाशन में यह प्रसंग आया बताया जाता है कि भारत को छोड़कर संसार में कोई दूसरा ऐसा स्थान नहीं है जहां कि लोक शैली के मृद् शिल्प ने इतना महत्व पूर्ण योगदान दिया हो। भारत के मृद् शिल्प की पृष्ठ भूमि सामाजिक, धार्मिक और आनुष्ठानिक महत्व की है। कुम्हार द्वारा बनाया हुआ मिट्टी का घड़ा पूजा अनुष्ठान के समय किसी आराध्य देवता की मूर्ति न होने पर मंगलघट बनाकर उस देवता की प्रतिमा का कार्य देता है। किसी प्राणी के मरणोपरान्त कर्म-क्रिया के समय भी कुम्हार का बनाया मिट्टी का दीया प्रयोग में लाया जाता है। रेखा की पावनता द्वारा ही अनेक आकार को गौरव प्रदान कर देना भारतीय मृद्-शिल्प की एक महान् विशेषता है।

हिमाचल में कांगड़ा में गहरे लाल रंग के मृद् भाण्डे घरेलू प्रयोग के लिये बहुत प्रचलित हैं। काश्मीर के मृद भाण्डों की सतह पर एक प्रकार की गलेज़ वाली चमक होती है।

धातु बरतन बनाने का शिल्प भी हमारे देश में प्राचीन काल से चलता आया है। कोणार्क में सूर्य मन्दिर और दिल्ली के कुतुब मीनार में लोहे के प्रयोग की दीर्घ उपयोगिता सिद्ध है। धातु बरतनों में धार्मिक देवताओं की मूर्तियों, आनुष्ठानिक पदार्थों और दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का नाम लिया जा सकता है। हिमालय के शिवालकी दामन में 'कलसी' (पानी भरने की गागरें) बनाने का और प्रयोग करने का अधिक रिवाज है। इस क्षेत्र में कांसा और तांबे को वैभव और ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता रहा है।

अब हम कसीदाकारी का वर्णन करते हैं। भारतीय कसीदाकारी इतनी बढ़िया और सम्पन्न है कि विश्व भर मे शायद ही इसकी कोई बराबरी हो। इसका कारण यह है कि भारत के विभिन्न जनपदों में अपनी विशेष शैली है और विशेष स्टिच है। काश्मीर, हिमाचल और मणिपुर में प्राकृतिक पर्वतीय रमणीयता है कसीदाकारी में कुछ सीमा तक हिमाचल प्रदेश की चम्बा कसीदाकारी बहुत प्यारी और मोहक है। इसमें चित्रित मानव के चित्रों की मुख मुद्रायें अत्यन्त

सजीव और स्पष्ट हैं और शरीरों में एक प्रकार का स्पन्दन है। चम्बा कसीदाकारी का बढ़िया नमूना चम्बा रुमाल है। इसका एक अलग व्यक्तित्व रहा है। प्रारम्भ में तो ये सिर पर अथवा ग्रीवा के चारों ओर बांधने के लिये इस्तेमाल किये जाते थे, परन्तु बाद में शुभ कामनाओं के स्वरूप उपहार रूप में दिये जाने लगे। बादामी रंग के रेशमी कपड़े पर कढ़ाई की जाती है। चित्रों की प्रवाहमयी रेखायें विभिन्न खण्डों में संतुलन और समन्वय है। पेड़ों, पौधों और पुष्पों की रूढ़ियों को शैलीकृत किया जाता है। किन्हीं किन्हीं रूमालों पर कसीदाकारी से राधाकृष्ण के चित्र बनाये जाते हैं। पेड़ों की मुद्रायें, जल का प्रवाह, हल्के हल्के बादलों के झुण्ड, आकाश पर लजीला सा चांद आदि, परिपेक्ष्य से सुकोमल त्यार की उभरती खिलती भावनाओं का चित्रण किया गया है। राम लीला को भी कसीदा कारी में चित्रित किया गया है। राधा कृष्ण, रास लीला आदि प्रसंगों की नई नई उद्भावनाएं स्त्रियों की वेश भूषा पर भी लोक शैली में कसीदाकारी द्वारा चित्रित हुई हैं। इन पर मानव आकृतियां बहुत सरल और अमूर्त जैसी होती है। शरीर की आकृति को एक कोण बनाकर चित्रित किया जाता है और मुख दिखाने के लिये एक पक्षी की आकृति सी बना दी जाती है। पौधों, पुष्पों, पक्षियों और पशुओं को भी लोक शैली में कसीदे से चित्रित किया जाता है, कृष्ण का शरीर गहरे नीले रंग में और उनके पैर जामुनी रंग में चित्रित किये जाते हैं। गोपियों को चमकीले जामुनी रंग और कच्चे पीले रंग में चित्रित किया जाता है अथवा क्रमिची रंग के साथ पीले रंग का प्रयोग किया जाता है। इन भड़कीले रंगों में ये पौराणिक व्यक्तित्व कुछ और ही बन जाते हैं। ऐसे कसीदे में दोहरा साटन स्टिच का इस्तेमाल किया जाता है।

लोक कलाओं में काष्ठ कार्य का भी अलग महत्व है। सुकोमल तंतुदार अखरोट की लकड़ी से बढ़िया काष्ठ वस्तुओं के निर्माण में काश्मीर बहुत प्रसिद्ध है। सुरम्य और सुरुष्य देवदार पेड़ों के देश हिमाचल प्रदेश में काष्ठ कार्य बहुत होता रहा है। यहां के काष्ठ मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं। घर के बरतन भी लकड़ी के बना लिये जाते हैं। पानी भरने का घड़ा भी लकड़ी का ही बना लेते हैं। ऐसे बरतन बनाने में चम्बा के भरमौर जनपद का कूनां गांव माना हुआ था। चम्बा में अनाज रखने की बड़ी बड़ी पेटियां भी लकड़ी की ही बनाई जाती हैं। उनके ढकनों पर रूपांक बनाये जाते हैं वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं, अमूर्त जैसे ही होते हैं। उन रूपांको में पारम्परिक रूढ़ियां चित्रित की जाती थीं। कुछ अधिक प्रसिद्ध रूपांकों में नागबैल, कुठेरी फल, डोरी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। नकाशी वाले द्वार, ब्रेकटे भी काष्ठ कार्य के बहुत अच्छे नमूने हैं काष्ठ कार्य में कुछ जड़ाऊ काम भी होता है। जडाऊ कार्य में वैषम्य द्वारा सुखद और मनोहर प्रभाव उत्पन्न करना अभिप्रेत रहता है यह कार्य अधिकतर छोटी वस्तुओं पर किया जाता है, जैसे टीपाई, छोटे बक्से, पौडरबक्स, सिगरेट केस आदि। इन वस्तुओं के फलक पर रंगीन दृष्य चित्रित किये जाते हैं। जैसे कोई प्राकृतिक सौंदर्य का दृष्य, भेड़ें चरा रहा गडरिया, फूल चुन रही बालिकायें, जल के घड़े उठाये महिलायें, देदीप्यमान दुशहरा समारोह, प्राचीन पुराण कथाओं और महाकाव्यों में से चुने हुये कोई दृष्य और उनके चारों ओर पुष्पों का चित्रण आदि आदि काष्ठ कार्य के जड़ाऊ काम में चित्रित किये जाते हैं। हिमाचल प्रदेश की शिवालक शैलमाला के दामन में होशियार-पुर ऐसे जड़ाऊ कार्य के लिये प्रसिद्ध हैं

आभूषणों का निर्माण भी एक पारम्परिक लोक कला है। चांदी के आभूषण भारी होते हैं और ग्रामीण स्त्रियाँ पहनती हैं, स्वर्ण के आभूषण जो नागर स्त्रियां पहनती हैं एक ही कई नमूनों से बनाए जाते हैं। उदाहरणार्थ सिर पर पहने जाने वाला 'चक' एक गोल लम्बूतरा चांदी का गहना है। इसकी बाहरी सतह पर पुष्पाकार डिज़ाइन निकाले हुये होते हैं। ये आकार क्षितिज दायरों में बनाये हुये होते हैं। साथ साथ रेखायें विन्दु और छोटे छोटे डेश होते हैं। इस चक्र के पांच छै प्रकार हैं। जब इसकी चोटी को कुछ ऊंचा जैसा बनाकर इस पर एक रंगीन नग फिट किया जाता है तो इसे 'उच्चा चक' कहते हैं। जब चांदी के वारे इसके साथ लटकाये जाते हैं तो इस चक बोरोवाला चक कहते हैं। जब इसके साथ इसी आकार के दो छोटे छोटे चक्र दोनों ओर लटका दिये जाते हैं तो इसे चक फुलिया कहते हैं। जब इसकी चोटी की बनावट में थोड़ा सा अन्तर कर दिया जाये तो इसे चक चन्दियारा कहते हैं।

सिर के बालों की चुटिया में लगाने के लिये चांदी की जुट्टी बनाई जाती है। माथे के लिये श्रृंगार पट्टी होती है। माथे के मध्य में स्वर्ण आभूषण लगाया जाता है। जिसे बिन्दी कहते हैं। चम्बा की पंगवाल स्त्रियां अपने सिर के चारों ओर लिपटने वाली एक चांदी की चेन पहनती है जिसे "शंगली" कहते हैं। लदाखी महिलायें सिर की चुटिया के साथ एक लम्बा पेरक पहनती हैं जो कि पांवों के रखने तक पहुंचता है। यह तरह तरह के नगों से जड़ा होता है। राजस्थानी महिलाओं के लिये सिर के केशों का प्रिय आभूषण मोर पट्ट है। पर्वतीय प्रदेशों में स्त्रियां सिर पर जो टोपियां पहनती हैं उनके दोनों ओर चांदी के पत्र (पीपल के पत्तों के आकार के) लटकते रहते हैं। कान के लिये कर्णफूल अथवा झुमके होते हैं। शिमला की महासू महिलायें कानों की बालियां कानों में न पहन कर कानों के ऊपर लटकाती हैं। नथ और बालू भी नाक के गहने हैं। बालू सुमंगल का प्रतीक है। ग्रीवा के लिये किन्नौर की त्रिमणी एक शोभनीय आभूषण है। स्वर्ण के तीन नारे कलात्मक डिजाइनों में जटित इसकी शोभा का आधार हैं। चम्बा की चूड़ी (कंगन) अपना अलग महत्व रखती है।

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी ने एक चित्रकार नियुक्त किया है जो बांस के पत्तों और भोज पत्रों, मक्की के सूखे पत्तों तथा दुरघाड़ी नाम की कण्टीली झाड़ी के पत्तों को काट काट कर उन्हें चिपका कर मानव आकृतियां बनाता है। यह कला भी हस्त शिल्प है और इसमें बनाई गई मानव आकृतियों में भावों का बोध भी पूरा हो जाता है।

हिमाचल प्रदेश में हस्त शिल्पों के विकास के लिये एक हस्तशिल्प बोर्ड बनाया हुआ है। अब आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रदेश के समस्त हस्तशिल्पों पर एक पुस्तक प्रकाशित की जाये, जिस में हस्तशिल्पों के चित्र भी हों और उन्हें बनाने का ढंग भी बताया गया हो।

—सहायक,
भाषा संस्कृति विभाग,
शिमला-7

पुण्य स्थल—पराशर झील

—विद्या चन्द ठाकुर

हिमाचल प्रदेश में अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य सम्पन्न ऋषि महा ऋषियों के अनेकों पुण्य स्थल हैं जिनको देखने की इच्छा से भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के कोने कोने से असंख्य लोग आते हैं। इस प्रदेश के मण्डी जनपद में ऐसा ही एक प्राकृतिक वैभवसम्पन्न दर्शनीय पुण्य स्थल है 'पाराशर झील'। महर्षि पाराशर ने किसी काल में इसी शान्त, स्वच्छ एवं मनमोहक वातावरणमयी पावन धरा पर आकर अध्यात्म-चिन्तन किया था।

पाराशर झील मण्डी जनपद के उत्तरसाल क्षेत्र में समुद्र तल से 9000 फुट की ऊंचाई पर प्रकृति के मुक्त सुरम्य स्थल में अवस्थित है। यहां प्रकृति की विलक्षण क्रीड़ा देखने को मिलती है। झील के चारों ओर लगभग डेढ़ किलोमीटर घेरे में पर्वत ऐसा घेरा धारण किए हुए है जैसे कोई दीवार बांधी गई हो। इस पर्वत रूपी दीवार के मध्य समतल स्थान पर झील तथा झील के साथ ही काष्ठ निर्मित पिरामिडाकार पैगोडा शैली का पाराशर मन्दिर है। मन्दिर के भीतर महर्षि पराशर की भव्य पाषाण-प्रतिमा है। आगुन्तकों के आवास हेतु दो धर्मशालाएं भी बनाई गई हैं। सर्वतोमुखी नैसर्गिक सौन्दर्य से विभूषित यह रम्य स्थान सैलानियों के लिए उत्तम विहार-स्थल तथा धर्म परायण व्यक्तियों के लिए महत्वपूर्ण पुण्य तीर्थ स्थान है।

महर्षि पराशर की यह पावन पुनीत भूमि यातायात की सुख सुविधा से वंचित दूर पर्वत-शिखर पर स्थित होने के कारण अभी तक बहुत से प्रकृति-प्रेमियों तथा श्रद्धालु जनों की दृष्टि से ओझल रही है। यहां तक वही व्यक्ति पहुंच सकता है जिसकी "हिल एँलेवन' (ग्यारह नंबर की गाड़ी) अर्थात् टांगें सक्षम हों। हिमाचल लोक निर्माण विभाग के निर्माणाधीन पनारसा पाराशर परिवहन मार्ग निकट भविष्य में पूरा होने वाला है। जब इस बस मार्ग पर यातायात प्रारम्भ हो जाएगा तो निसन्देह यह क्षेत्र 'पर्यटकों का स्वर्ग' की संज्ञा को प्राप्त होगा।

पद-यात्रा का अपना एक विशेष महत्व है। प्रकृति के नयनाभिराम रंगीन दृष्यों को समीपता से देखने का जो आनन्द एक पद यात्री प्राप्त कर सकता है, मोटरयान में भागते हुये वह कहां मिल सकता है? पद यात्रियों के लिए यहां तक अनेकों पगडंडी मार्ग हैं। पहला मार्ग मण्डी कटौला पाराशर मार्ग है। इस मार्ग पर मण्डी शहर से कटौला तक बस सुविधा प्राप्त है और उसके बाद लगभग 15 किलोमीटर की चढ़ाई लांघ कर पाराशर पहुंचा जाता है। अन्य मार्ग पण्डोह पाराशर, नोघी पाराशर, थालौट पराशर तथा बजौरा पाराशर हैं। पण्डोह, नोघी, थालौट और बजौरा नामक स्थान मण्डी कुल्लू परिवहन पथ पर पड़ते हैं। किसी भी मार्ग से व्यक्ति जब पाराशर झील पहुंचता है तो यहां की प्राकृतिक छटा को देखकर वह आत्म-विभोर हो जाता है और मार्ग की थकान भूल जाता है। यहां घूमते हुए ऐसा अनुभव होता है कि जैसे स्वर्ग लोक में विचरण किया जा रहा हो।

पाराशर झील का वास्तविक घेरा लगभग आधा किलोमीटर है परन्तु झील का पानी तट के बाहर भी काफी आगे तक फैला होता है। वर्षा काल में तो यह फैलाव और भी विस्तृत हो जाता है। वास्तविक क्षेत्र में झील की गहराई

बहुत अधिक बताई जाती है। कहते हैं कि एक बार मण्डी के किसी शासक ने झील की नपाई लेनी चाही। इसके लिए लोगों से ढेरों रस्सियां इकट्ठी की गईं। सभी रस्सियों को गांठ कर एक कर दिया गया। रस्सी के अगले सिरे में लोहे का 'घण' बांधा और झील में फैंका। सारी रस्सियाँ समाप्त हुई तब भी, घण थाह तक नहीं पहुंच पाया। शासक ने और रस्सियां इकट्ठे करने का आदेश दिया परन्तु तत्क्षण ही किसी व्यक्ति की देह में दैवी शक्ति ने प्रवेश किया और वह देव-वाणी में बोला —राजेश्वर! आप यह कार्य छोड़ दें। झील की नपाई में आप कदापि सफल नहीं होंगे। इस देव-कथन को सुनकर देवप्रिय शासक ने यह असफल प्रयास छोड़ दिया।

पाराशर आश्रम में आजकल पुजारी सदैव रहते हैं। पहले यहां ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। एक समय एक ऐसी घटना घटी जिसके बाद यहां पुजारी सदा ठहरते हैं। उस घटना प्रसंग में झील की अत्यधिक गहराई का भी पता चलता है। घटना-प्रसंग इस प्रकार बताया जाता है कि एक बार पाराशर झील के ऊपर पहाड़ी पर एक भैंस मरी पड़ी थी। भैंस का मांस गिद्ध आदि पक्षी भक्षण करने लगे। उसका सिर धड़ से अलग हुआ और वह लुढ़क कर झील में जा डूबा। वह सिर झील में उस स्थान पर जा टिका जहां से पानी का निकास होता है। भैंस के सिर ने पानी का निकास रोक दिया। झील में पानी चढ़ना आरम्भ हुआ। मन्दिर भी पानी में डूबने लगा। अति विकट स्थिति पैदा हुई। कहते हैं कि शनोर गांव में वरदनाग देवता का वाक्दूत (गूर) 'लूंघू शनोरी' महर्षि पराशर का परम भक्त था। वह अपने खेत में खनन कार्य कर रहा था। अकस्मात् बिना कारण ही उसका कुदाल (खनन उपकरण) भूमि में इस तरह अटक गया कि प्रयत्न करने पर भी उसे न निकाला जा सका। उसे बड़ी हैरानी हुई कि यह क्या अनहोनी क्रिया हो रही है? कुदाल बिना किसी कारण के भूमि में क्यों फंस गया है? वह यह विचार ही रहा था उसके शरीर में एक अद्भूत प्रक्रिया हुई उसे जाग्रत अवस्था में ही ऐसी अनुभूति हुई कि पाराशर आश्रम में कोई अनिष्ट हो गया है। वह खेत से ही पराशर झील जा पहुंचा। वहां उसने देखा कि झील का पानी ऊपर चढ़ रहा है और मन्दिर भी आधा पानी में डूब चुका है। उसने समीप के गांव में इसकी सूचना दी और यह समाचार एक ही दिन में समीप के क्षेत्रों में सर्वत्र फैल गया। दूसरे दिन पराशर ऋषि के उपासक तथा अन्य स्थानीय देवों के उपासक अपने देवताओं के साथ वहां पहुंचे। बड़ी गम्भीर समस्या पैदा हो चुकी थी। झील में पानी निरन्तर ऊपर बढ़ रहा था। सभी देवताओं के 'गूर' धूप के धौड़छ (धूपपात्र) लिए दैवी शक्ति कर आह्वान कर रहे थे। ऐसे समय में महर्षि पराशर के उसी परम भक्त 'लुंघू शनोरी' की देह में दिव्य शक्ति ने प्रवेश किया। चमत्कारिणी शक्ति के बल पर 'लुंघू शनोरी' विराट रूप धारण कर झील में जा कूदा। तीन चार दिन बीत गए। उसका कोई पता नहीं रहा। सभी ने यही समझा कि वह झील में काल को प्राप्त हो चुका है। उस समय मृतक की कर्म-क्रिया (रस्म पगड़ी) तीन या पांच दिनों में हुआ करती थी। उसके घर में भी यह रस्म पूरी की गई। उन्हें यह नहीं मालूम कि जिस शक्ति के बल पर उसने झील में प्रवेश किया वही शक्ति झील में भी उसकी रक्षा करेगी। वह तो जीवित था और अपने लक्ष्य को पाकर लौट रहा था। सात दिनों के बाद लुंघू शनोरी एक हाथ में भैंस का सिर लिए और दूसरे हाथ में जलता धूप-पात्र पकड़े झील के बाहर हुआ। जो व्यक्ति उस समय वहां उपस्थित थे, इस अलौकिक चमत्कार को देखकर वे अपने आप को भूल गए। उनके हर्ष और आश्चर्य की कोई सीमा नहीं थी। पानी ने धीरे धीरे उतरना आरम्भ कर दिया था और दो तीन दिनों में झील अपनी पूर्व स्थिति में आई।

पाराशर झील के स्थान पर वर्ष में सौरा पांजू तथा सौरा नाहुली नामक दो प्रसिद्ध मेले लगते हैं। 'सौरा पांजू' मेले को धार्मिक महत्व अधिक दिया जाता है। यह मेला भाद्रपद मास की अमावस्या की पञ्चमी को महर्षि पराशर के जन्मोत्सव के रूप में मनाया जाता है। दूसरा मेला 'सौरा नाहुली' आषाढ़ संक्रान्ति के दिन एक फसली त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। इस मेले में पच्चीस, तीस स्थानीय देवता भी सम्मिलित होते हैं। गर्मी का अनुकूल मौसम होने से इस समय देव-दर्शन के साथ साथ पर्वतीय सैर का भी पूरा आनन्द लिया जा सकता है। कुल्लू और मण्डी जनपद के बहुत अधिक लोग महर्षि पराशर को कुल देवता के रूप में मानते हैं। सौरा पांजू और सौरा नाहुली मेलों के शुभ अवसर पर ये लोग भारी संख्या में पराशर ऋषि के चरणों में श्रद्धा के पुष्प अर्पित करने यहां पहुंच जाते हैं और देव पराशर के दर्शन से तथा झील में स्नान करके अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं।

महर्षि पराशर के प्रति इनके उपासक जनों का पूर्ण विश्वास है। इनकी दृष्टि में ऋषि पराशर सर्व सिद्धि प्रदायक हैं। उपासकों की सच्चे मन से ऋषि शक्ति पर पूर्ण आस्था रखते हुए की गई मनौती ऋषि कृपा से अवश्यमेव सिद्धि को प्राप्त होती है। यदि ऋषि की शक्ति पर किञ्चित भी सन्देह हुआ तो वह एक महान् अनर्थ का कारण बन जाता है। इस सम्बन्ध में एक जन श्रुति है कि किसी समय कोई स्त्री सन्तान प्राप्ति का वरदान लेने ऋषि पराशर के दरबार में पहुंची। जब वह स्त्री झील में स्नान कर रही थी, उसने दो लौंग (नाक के आभूषण) झील में इस आशा से समर्पित किए कि उसके जुड़वां पुत्र हों। स्त्री की शुद्ध अन्त:करण से की गई प्रार्थना महर्षि ने स्वीकार की। 1 वर्ष के भीतर ही उस स्त्री ने दो अति सुन्दर पुत्रों को जन्म दिया। जब बालक कुछ बड़े हुए तो वह स्त्री फिर किसी पर्व पर वहां पहुंची। न जाने क्यों इस बार यहां आकर उसके मन में ऋषि के दिए पर सन्देह उत्पन्न हुआ। वह उसी स्थान पर स्नान करने गई जहां उसने दो लौंग फैंके थे। वह वहां सोचने लगी कि जुड़वां पुत्र तो मेरे भाग्य में थे, मैंने यहां लौंग व्यर्थ में ही फैंके हैं। महर्षि की शक्ति का चमत्कार! ज्यों स्त्री ने पानी के लिए बर्तन झील में डाला, दोनों लौंग बर्तन में वापिस आ गए। अब तो देव पराशर की चमत्कारिणी शक्ति को भूली हुई वह स्त्री प्रसन्न थी। परन्तु इस सन्देह का परिणाम कि वह यहां से घर भी नहीं पहुंच पाई थी, दोनों पुत्र काल के मुंह में जा चुके थे। वह बहुत पछताई, किन्तु अब पछताये क्या होत जब चिड़ियां चुग गई खेत।

अभी कुछ ही वर्ष हुए कुल्लू के एक व्यक्ति पर देव पराशर की प्रत्यक्ष कृपा हुई। हुआ इस तरह यहां महर्षि पराशर का कोई पर्व था। कुल्लू और मण्डी के बहुत सारे लोग पर्व के एक दिन पूर्व ही यहां एकत्रित हो चुके थे। कुल्लू से आए एक व्यक्ति के मन में यह विचार आया कि किसी काल में तो सम्भवतः देवताओं में शक्ति अवश्य होगी परन्तु आज वह शक्ति कहां। अब तो केवल एक परम्परा को निभाने की बात है। वास्तव में देवताओं में कुछ नहीं रखा है। यह सारी बात व्यर्थ में समय को नष्ट करने की है। ऐसा सोचने के कुछ देर बाद वह बाल्टी लेकर झील में पानी लेने गया। वह पानी भर रहा था, किसी तरह उससे बाल्टी हाथ से छूटी और पानी में डूब गई। वहां पानी बहुत कम गहरा था और सुगमता से नीचे भूमि पर टिकी बाल्टी पानी में नजर आ सकती थी। बाल्टी का नजर आना तो दूर रहा परन्तु यहां ढूंढ़ने पर भी वह न मिल सकी। अनेकों व्यक्तियों ने लकड़ी के लम्बे लम्बे डण्डे पानी में डालकर ढूंढ़ने का प्रयत्न किया। रात हो चली, बाल्टी नहीं मिली। सभी प्रयत्न निष्फल, वह व्यक्ति चिन्तित था। रात को उसने सोचा मैंने ऋषि शक्ति पर सन्देह किया था कहीं यह उसका ही परिणाम तो नहीं है? सारी रात खिन्न चित से व्यतीत की। प्रभात काल में वह उठा उसने महर्षि पराशर से प्रार्थना की 'मेरे इष्ट देव पराशर! यदि कल दिन को सोचे विकृत के कारण ही मेरी बाल्टी खो गई है तो मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूं और आप से क्षमा चाहता हुं। मेरी बाल्टी मुझे प्राप्त हो मैं उसी समय भूल प्रायश्चित हेतु आपके चरण कमलों में दो रूपए अर्पित करूंगा।' यह प्रार्थना कर वह डण्डा लेकर बाल्टी खोने के स्थान पर गया। ज्यों ही उसने डण्डा झील में डाला डण्डे ने एकदम बाल्टी को स्पर्श किया और डण्डे के साथ ही बाल्टी बाहर आई। ऋषि का यह प्रताप देखकर सभी चकित रह गये। अब तो उन लोगों के हृदय में भी ऋषि के प्रति स्वतः श्रद्धा के भाव उठे जो अभी तक सन्दिग्ध अवस्था में थे। बाल्टी का मालिक अति प्रसन्न था। उसने खुशी खुशी दो रुपए ऋषि चरणों में रखे।

विगत पांच-छः वर्षों में यहां की मुख्य विशेषताओं में कुछ अधिक ह्रास हुआ है। पाराशर झील में एक गोल तरता भूखण्ड है। यह भूखण्ड झील में नियमित रूप से सरकता था। यदि प्रात: के समय यह झील के दक्षिण छोर पर होता था तो शाम को उत्तरी छोर पर पहुंच जाता था। यदि कभी पराशर ऋषि किसी कारण से कुपित हों तो यह भूखण्ड सरकना बन्द करके एक स्थान पर रुका रहता था। कोप के निराकरण के पश्चात् यह पुन: पूर्ववत् चलता था। अब यह भूखण्ड काफी समय से एक ही स्थान पर स्थित रहता है। कभी कभार सरका भी तो थोड़े से आगे जाकर फिर रुक जाता है। कुछ लोग बताते हैं कि इस पवित्र भूमि पर पीछे कुछ लोगों ने मदिरा-पान आदि अपवित्र कर्म करके इस भूमि को दूषित कर दिया,

जिस से ऋषि नाराज हैं। भूखण्ड का न सरकना उसी नाराजगी के कारण है। दूसरे यहां पहले एक विशेष गुणकारी 'सरयालु' नामक हरी घास झील से प्राप्त होती थी। पराशर ऋषि के उपासक यह 'सरयालु' आशीष रूप में घरों को ले जाते थे। यह आशीष अनेकों कष्ट-निवारण के लिए रामबाण औषधि थी। किसी रोगी व्यक्ति को इसकी 'धूनी' (धुआं) देने से रोग ठीक होने के अनेकों प्रमाण हैं। कई व्यक्तियों से इसके गुणों की चर्चा सुनी गई है। कुछ समय पूर्व किसी ने पाराशर झील में मछलियां डाल दीं। उन मछलियों ने यह 'सरयालु' बिल्कुल साफ कर दिया। जो सरयालु यहां जिधर हाथ उधर ही, प्राप्त हो जाता था अब ढूंढ कर भी नहीं मिलता। सम्भवत: अब जो लोग इस स्थान पर आएंगे, उन में से बहुतों को उपरोक्त बातों पर विश्वास नहीं होगा और इसे एक मिथ्या धारणा मानेंगे। परन्तु मैं उन सज्जनों से निवेदन करूंगा कि यह बातें मिथ्या नहीं, बिल्कुल सत्य हैं। यहां के देव-पुजारी तथा स्थानीय पंचायत चाहें तो मिलकर यहां हो रहे दूषित कार्य को रोक कर इस पुण्य भूमि की पवित्रता को बचा सकती हैं इस से ऋषि के कोप का भी निवारण हो सकता है। जहां तक मछलियों की समस्या है, यह बड़ी जटिल है। इसका भी कोई समाधान ढूंढा जाना चाहिए, तभी झील की सुरक्षा और देव-आशीष 'सरयालु' की पुन: प्राप्ति सम्भव है। इसी से धार्मिक जगत के जन-मानस की श्रद्धापूर्ण भावना एवं स्थान की महत्ता स्थिर रखी जा सकती है।

—शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
शिमला—171005

Scanned with CamScanner

बिलासपुर का तीर्थ

रुक्मणी कुण्ड

–हुक्म सिंह ठाकुर

भारत एक तीर्थप्रधान देश है। यहां की 60 करोड़ जनता का अपने इष्ट देवताओं में अटूट विश्वास है। ज्यों ज्यों हम उत्तर की ओर अग्रसर होते जाते हैं त्यों त्यों यह विश्वास भी दृढ़तर होता जाता है। इसीलिए तो हमारे धार्मिक ग्रन्थों में उत्तराखण्ड को देवताओं का वास कहा गया है। ज्यों ही हम उत्तरी भारत के मैदान व दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता जैसे कोलाहलपूर्ण नगरों को छोड़ उत्तराखण्ड की ओर अग्रसर होते हैं, श्वेत हिमाच्छादित पहाड़ स्वागतार्थ खड़े मिलते हैं। ऐसा आभास होता है कि विधाता स्वयं एक महान कलाकार व खिलाड़ी है। क्योंकि इन पर्वतमालाओं की रचना उसने इसी प्रकार कर रखी है जिस प्रकार सरकार ने ग्रीन पार्क स्टेडियम कानपुर व बानखेड़े स्टेडियम बम्बई की कर रखी है। सच भी तो है, क्योंकि विधाता सर्व विश्व की सरकारों पर सर्वोच्च सरकार है और उसे विश्व भर की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं को देखने के लिए ऐसे ही बड़े स्टेडियम की आवश्यकता है। इसी कारण ज्यों ज्यों आपके कदम उत्तराखण्ड के इन पहाड़ों की ओर बढ़ते हैं, देवताओं का वास भी यथार्थ प्रतीत होता है। क्योंकि मनुस्मृति के अनुसार जीवन के चतुर्थ आश्रम में प्रवेश पाने पर मानव मात्र का लगाव अपने सभे सम्बन्धियों से विच्छेदित हो जाता था, वह आत्मा-परमात्मा के रहस्य को पाने के लिए और प्रभु-भक्ति में लीन होकर इन ऊंचे ऊंचे पर्वतों व बीहड़ जंगलों की ओर चला जाता था। इन्हीं उच्च शिखरों ने अपने समान महान ऋषियों को जन्म दिया जिनके नाम पर इस देश की पावन धरती तपोभूमि कहलाती है। आज भी हमें पर्वतों के ऊंचे हिमाच्छादित शिखर ऐसे मालम पड़ते हैं मानो श्वेत संगमरमर के देवालय की चोटियां हों। हमारा हिमाचल प्रदेश भी इसी उत्तराखण्ड का एक भाग है। हिमाचल देव-भूमि है। हम सभी हिमाचल-वासियों का अपने देवी-देवताओं में पूर्ण विश्वास है। प्रत्येक जिले में कई प्रसिद्ध धार्मिक स्थान हैं, जैसे लक्ष्मी नारायण जी का मन्दिर (चम्बा), भरमौर–चौरासी (चम्बा), श्री रेणूका देवी (सिरमौर), ज्वाला जी व बैजनाथ (कांगड़ा) इत्यादि। हिमाचल के विभिन्न जिलों में बिलासपुर जिले का अपना विशेष महत्व है। केवल 451 वर्गमील क्षेत्रफल व दो छोटी छोटी तहसीलों का यह जिला भारत के इतिहास में एक विशेष स्थान पाता है। मन्दिरों व धार्मिक स्थलों की अधिकता के कारण उच्च साहित्यकारों ने इसे छोटी काशी का नाम दिया है। महाभारत के रचयिता ऋषि व्यास देव का यहां आश्रम होना और उन्हीं के नाम पर इस जिले का नाम होना भी इस बात की यथार्थता की पुष्टि करता है। श्री नैणादेवी जी, बाबा बालक नाथ जी, बडोल देवी, व गुग्गा जाहरपीर की माड़ियां यहां के प्रसिद्ध देव-स्थान हैं। इन सभी प्रसिद्ध देव स्थानों के अतिरिक्त रुकमणी कुण्ड भी यहां एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है जहां कि सैकड़ों श्रद्धालु भक्त व तीर्थयात्री प्रति वर्ष आते हैं।

इस सुप्रसिद्ध रुक्मणी कुण्ड की कहानी हिन्दुओं के चिरकालीन इतिहास में वर्णित वीरांगनाओं के अद्भुत बलिदान की अपूर्व गाथा है। यह कुण्ड बिलासपुर शहर से गोबिन्द-सागर के रास्ते बिलासपुर

गहड़वीं मार्ग पर लगभग 5 कि मी0 की दूरी पर लगभग 3000′ की ऊंचाई पर स्थित है। कथा इस प्रकार बताई जाती है कि अतीत काल में जबकि मानव-बस्तियां बड़ी कम संख्या में थीं और सभ्यता बर्बरता को पीछे धकेल कर मानव की दहलीज पर आई ही थी तो उस काल में गेहड़वीं के पास ही बरसण्ड नामक टिब्बे पर जो कि लगभग 4000′ ऊंचाई पर है राजपूतों की एक छोटी सी बस्ती थी। ये राजपूत उस काल में 'रूण्डों' के नाम से जाने जाते थे। शत्रुओं से अपनी रक्षा हेतु वे उच्च शिखरों पर बसते थे। बाहुबल में सारी बस्ती में प्रबल एक इनका सरदार था जो कि राजा की उपाधि से सुशोभित हो कर ऋग्वैदिक आर्यों की शासन-पद्धति की याद दिलाता था। सामने तले दूसरे टिब्बे पर जहां कि वर्तमान तरेड़ गांव बसा है, एक और राजपूत बस्ती थी। इसी बस्ती की रुकमणी नामक कन्या की शादी रुण्ड वंशीय राजा के ज्येष्ठ पुत्र के साथ सम्पन्न हुई। दोनों टिब्बों के बीच की दूरी लगभग 3½ कि0 मी0 है और दोनों के बीच वर्तमान सतलुज नदी, जो कि शतद्रु के नाम से जानी जांती थी, बहती थी। इस नदी पर कोई पुलादि न था। रुण्ड वंशीय राजपूतों की बस्ती में जल का अत्यधिक अभाव था। आस पास कहीं भी पानी न होने के कारण पानी सतलुज नदी से ही लाना पड़ता था जो कि लगभग 2½ कि0 मी0 दूर थी। मार्ग बीहड़, ऊबड़, खाबड़ व चढ़ाईपूर्ण था। ग्रीष्म काल में तो जलाभाव के कारण त्राहि त्राहि मच जाती थी। लोगों ने विविध साधनों द्वारा देवताओं की मनौती की लेकिन जल की उपलब्धि न हो सकी। कुछ समय के पश्चात राजा को स्वप्न हुआ कि यदि वह ज्येष्ठ पुत्र या ज्येष्ठ पुत्र-वधू की अमुक स्थान पर बलि दे दें तो वहां जल का स्रोत फूट सकता है। कुछ दिन तो राजा चुप और चिंताग्रस्त रहा परन्तु एक दिन उसने स्वप्न की बात, जो कि किसी देव ने कही थी, सभी पर प्रकट कर दी। परिवार में चिंता का वातावरण उत्पन्न हो गया लेकिन यह समझते हुए, प्रजा की सेवा राजा का प्रथम कर्तव्य है राजा का ज्येष्ठ पुत्र सहर्ष आत्म-बलिदान के लिए तैयार हो गया। परन्तु राजा की बड़ी बहू रुक्मणी ने राजा से प्रार्थना की कि 'मेरी मृत्य पर तो आप अपने पुत्र का पुर्नविवाह कर सकते हैं लेकिन राजपूत-विधवा दूसरी शादी नहीं कर सकती और आंखों के सामने पति का बलिदान होते देख तो यहीं से उसका नरक-भोगना आरम्भ हो जाएगा। अंतः मैं बलिदान के लिए सहर्ष तैयार हूं और मेरी ही बलि दी जाए ताकि जीवन में मैं भी परोपकार का सौभाग्य प्राप्त कर सकूं।' राजा ने उसकी यह बात मान ली और पुरोहितों के द्वारा निर्धारित समय पर बरसण्ड टिब्बे से लगभग 600′ नीचे वर्तमान रुकमणी कुण्ड के स्थान पर रुक्मणी को जीवित दीवार में चिन दिया गया। कहते हैं कि बलिदान-दिवस के लगभग एक मास पश्चात् उस दीवार से रुक्मणी के स्तनों के स्थान से सफेद दूध की धारा बह निकली जो कि समयोपरान्त श्वेत निर्मल जल में बदल गई। रुक्मणी की अंतिम इच्छानुसार उसके स्तन व सिर के केश खुले रखे गए थे ताकि कभी मां आकर उसका सिर गूंथ सके और बच्चे स्तनों से दूध पी सकें। रुक्मणी के वे खुले केश कुछ समय बाद एक विशेष प्रकार के बागड़ घास में बदल गए। उक्त स्थान पर लगभग 80′ लम्बा 45′ चोड़ा और 15′ गहरा जलाशय बन गया। यही जलाशय आज रुक्मणी कुण्ड के नाम से हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है जो कि रुक्मणी देवी के अमर बलिदान का प्रतीक है।

आज यह रुक्मणी कुण्ड हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। प्रति वर्ष सैकड़ों श्रद्धालु भक्त यहां आते हैं। देवी-रुक्मणी उनकी वाञ्छित इच्छाओं को सम्पूर्ण करती है। लोग कुण्ड के पावन जल में स्नान कर के पापों से निवृत्ति पाते और मनवांछित फल पाते हैं। वर्तमान काल में भी इसके पानी की धारा बिल्कुल दूध के समान जान पड़ती है। इस उष्ण क्षेत्र में भी इस कुण्ड का जल इतना शीतल होता है कि ज्येष्ठ मास में भी इस में स्नान करने पर ठण्ड से दांत बजना आरम्भ कर देते

Scanned with CamScanner

है । कुण्ड का जल गहरा नीला व भयावह प्रतीत होता है । रुक्मणी कुण्ड का यह जल-स्रोत कोई छोटा जल-स्रोत नहीं है। इस के जल से कोई 40 पनचक्कियां चलती हैं और जल सारा वर्ष एक समान रहता है। लगभग 80′ लम्बे कुण्ड को तैर कर पार करना पड़ता है । दूसरे छोर पर पहुंचते ही एक विशाल गुफा प्रारम्भ होती है जो कि लगभग 200′ लम्बी 50′ चौड़ी और 30′ ऊंची है। कहा जाता है कि किसी काल में यह गुफा 5 मील लम्बी थी लेकिन बाद में इसके मध्य एक बड़ी शिला खड़ी हो गई जिससे कि इसकी लम्बाई कम हो गई । इस शिला के आधार के नीचे ठण्डे निर्मल जल का एक स्रोत आता है । प्रकृति की अद्भुत माया है कि इस रुक्मणी कुण्ड से ऊपर अब भी जल का बड़ा अभाव है। ग्रीष्म काल में तो सभी अन्य जल-स्रोत सूख जाते हैं और पानी के लिए हाहाकार मच जाता है। सन 1975 में सरकार ने इसी कुण्ड से पानी लिफ्ट करके गेहड़वीं के कोई 12 ग्रामों को पहुंचाया है । रुकमणी कुण्ड तक पहुंचने के लिए मार्ग पगडंडीनुमा है । इस पगडण्डी को गोबिन्द सागर तक सड़क का रूप देकर इस स्थान की महत्ता को बढ़ाया जा सकता है जिससे कि यात्रियों की कठिनाइयों में भी कमी हो सकती है । गोबिन्द सागर झील के बन जाने से रुक्मणी कुण्ड इसके किनारे पर एक धार्मिक स्थान के साथ साथ पर्यटकों के लिए एक दर्शनीय स्थान भी बन गया है। ऐसा है यह रुक्मणी कुण्ड; जिसके पावन जल की एक एक बूंद हिन्दु नारी के महान बलिदान की गाथा कहती है। फिर भी यदि पाठकगण अपने आप को इसके दर्शनों से वंचित रखें तो इसमें दोष किसका?

—राजकीय उच्च विद्यालय, नम्होल,
जिला बिलासपुर, हि0 प्र0

गदयार क्षेत्र का त्यौहार: बसो

—अमर सिंह रणपतिया

बसो (बैशाखी) गदयार प्रदेश का जीवन-स्पंदन है। इस दिन की प्रतीक्षा न जाने कितने दिनों से थी। बसो (बिस्सो और ब्रिस्सो भी) आई तो मानो मानस पटल पर गदयार प्रदेश छा गया। एक प्रकार की उदासी आई, अब अपने प्रदेश की याद सताने लगी। बच्चे से बूढ़े तक अनायास ही अपने प्रदेश की बात सोचने लगे। अक्तूबर और नवम्बर मास में कड़ाके की सर्दी के आगमन की संभावना होती है तो गद्दी समुदाय "गदेरन" से 'जांघर' (मैदानी भू भाग) की ओर गतिशील होता है। भेड़ और बकरी के रेवड़ के रेवड़ सड़क पर एक लम्बी कतार लगाये धीरे धीरे चलते नजर आते हैं। साथ ही एक अटूट समुदाय जिन में बच्चे, बूढ़े, युवक और युवतियां सभी दृष्टिगत होते हैं, मानों वे प्रकृति के क्रूर प्रकोप से बचने के लिए अपने जन्म स्थान को छोड़ देते हैं। गांव में इक्का दुक्का व्यक्ति मानो सम्पूर्ण गांव का प्रहरी बन कर रह जाता है। वे गूंजती हुई वादी, चरागाहें छल छलाते नदी और नाले और उन में गूंजता हुआ मानव-स्वर लुप्त हो जाता है। अब वह भू भाग सुनसान खड़ा मानव समुदाय की यादगार बन कर रह जाता है। रोते चिल्लाते बच्चे और बूढ़े लम्बे मार्ग में यातनाएं सहते उस घुमंतु जीवन की राह पड़ते हैं जिस का जीवन पर्यन्त अंत नजर नहीं आता। यही क्रम सर्वदा बना रहेगा। बस यही भावना मन में जागृत होती है। लेकिन इस क्रूर प्रकृति के आगे क्या चारा है। पर्याप्त समृद्ध जीवन और उपलब्ध साधन ही इस यायावर क्रम से मुक्ति दिला सकते हैं, जिन का स्वप्न लेना शायद अभी भगीरथ की गंगा है।

छः मास की दासता सहते और खून पसीना बहाते अब अपने प्रदेश में बसो मनाने की लालसा स्वाभाविक है। उन का हर प्रयत्न रहेगा कि 'बसो' का त्यौहार अपने घर जा कर मनाया जाय। बसो का अर्थ ही घर को नए तरीके से बसाने से है, इसी लिए इस त्यौहार को भी 'बसो' कहा गया है। हर गृहणी अब सोचती है, वह घर जाएगी। घर को लीपेगी, पोतेगी। उस को एक नया रूप देगी। उस को एक दुल्हन की तरह सजाएगी। वह कुछ दिन पहले पहुंच कर दीवारों को लाल मिट्टी से पोतेगी उस पर मकोल की सफेदी करेगी। कमरे या ओबरी की छत को झाड़ेगी, पोंछेगी, । आग के कारण कालख को हटाएगी, उस पर कलात्मक ढंग से मकोल के टिमकू (बिंदु) लगाएगी। कहीं कहीं एक ही प्रकार की पंक्तियां खींची जाती हैं। यह लोक कला देखे नहीं बनती। सारा घर जगमगा उठता है। नए वर्ष के नए त्यौहार के लिए यह सभी तैयारियां हैं।

यही नहीं, घर की सभी टूटी फुटी वस्तुओं को नया रूप दिया जाएगा। घर की गृहणी बांस की टोकरियों को मिट्टी से लीपेगी और पोतेगी। उन को नया जीवन प्रदान करेगी। उन्हें भी कलात्मक ढंग से मकोल के बिंदुओं से सुसज्जित करेगी ऐसा करें भी क्यों न ! इन में बसो की प्रतीक 'पिंदड़ी' तैयार की जाएगी। 'पिंदड़ी' का 'बसो' के साथ भावनात्मक सम्बन्ध है। पिंदड़ी का नाम लेते ही बसो की याद आती है और 'बसो' का नाम लेने से 'पिंदड़ी' का स्मरण उभर आता है। इस के साथ समूचे समाज का भावनात्मक सम्बन्ध है। इस के बिना त्यौहार का मनाना और न मनाना एक समान है। 'पिंदड़ी' की विवाहिता बहनें, सगे सम्बन्धी तथा मित्र और दोस्त बिछी आंखों से प्रतीक्षा करते हैं। यह भावनात्मक उपहार केवल कोदरे के आटे की पिन्नियां हैं जिनकी पूर्ति एक बहुमूल्य उपहार भी नहीं कर सकता। यह हृदय की देन है जिस का वर्णन एक कवि की लेखनी भी करते थक जाती है।

कुछ दिन पूर्व घराट कोदरे के आटे को उगलता जाएगा। हर व्यक्ति की पीठ पर कोदरे के आटे की थैली होगी। पूछने की जरूरत नहीं, यह पिंदड़ी के लिए कोदरा पीसा है। 'बसो' से दो दिन पूर्व एक पतीले या कड़ाही में पानी खूब खौलता कर लो

फिर उस में कोदरे का आटा छोड़ दो उसे पकने तक खूब घोल लो। अब उसे परात या कुनाले (लकड़ी की परात) में मामूली सा गंदम का आटा डाल कर गूंथ लो। अब उस सजी टोकरी में ऐरे (एक पौधा की) पत्तियों की तह बिछा दो। यदि एरा न मिला तो कैंथ या अखरोट या चिहु (एक वृक्ष जो लाल फूल देता है) की पत्तियां ही काम दे जाएंगी। आटे की गोल गोल, पर थोड़ी पिचकी सी पिनियां बनाते जाओ और तह पर तह बिछाते जाओ। हर तह पूरी होने पर उन को पत्तों से ढक दो। टोकरी भर जाने पर बच्चे उस पर राजा और रानी के प्रतीक दो मोटी पिन्नीयां रख देते हैं फिर टोकरी को पत्तों से ढक दिया जाता है। टोकरी की हर तह पूरी होने पर खट्टी छाछ की बौछार छोड़ी जाती है।

'बसो' वाले दिन उस टोकरी को खोल कर देखें तो इन पिन्नियों पर कुछ कुछ सफेदी छा गई होगी। अब इसे अपने लिए प्रयोग करने से पहले पितरों के निमित्त अर्पण किया जाएगा। तत्पश्चात इसे उपहार के रूप में अपने सगे सम्बन्धियों में बांटा जाएगा। कुछ समृद्ध लोग इसे शहद से खाना पसन्द करेंगे। परन्तु ग्राम जनता दूध में गुड़ घोल कर इस का आनन्द लेगी। यदि दूध भी दूभर हुआ तो पानी में गुड़ घोल कर इस का प्रयोग सानन्द किया जाएगा।

यही नहीं 'बसो' की पूर्व-संध्या के दिन बबरू (गेहूं के आटे के तले हुए भटूरू) पकाए जाएंगे। कहीं कहीं सुरा का भी दौर चलेगा। सभी दोस्त मित्र मिल कर एक दूसरे के दुखड़े सुनाएंगे और सुनेंगे। लोकगीतों का दौर चलेगा। सारा सूना जीवन फिर से अंगड़ाई लेगा।

इस त्यौहार के लिए अपूर्व उत्साह का होना स्वाभाविक है। इस दिन से ही सारे वर्ष की गतिविधियां आरम्भ होती हैं। यह जीवन की गति विधियों का संचार-केन्द्र है। इस दिन से 15/20 दिन पूर्व उत्साह की लहर चारों ओर दिखाई देती है। उस गद्दी समुदाय में, जो अपने घरों को नहीं छोड़ते और जिन को घुमंतु जीवन की कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, इस की उमंग अधिक दिखाई देती है। घर में लड़कियों के समूह एकत्रित हो कर रात रात भर घुरैंही (औरतों द्वारा गाये जाने वाले लोक गीत) की गूंज से सारे वातावरण को एक रंगीन जीवन के स्पंदन से स्फूर्त करते हैं। संयोग और वियोग की स्वर लहरी से सारा जीवन बोल उठता है। लोक गीतों का दौर 'पिंदड़ी' के दर्द भरे गाने से आरम्भ होता है। 'बसो' वाले दिन की विवाहित बहने खड़ी आंखों से प्रतीक्षा करती है। इस दिन सभी बहने अपने मायके पहुंचती हैं। मायके पहुंच कर अपने सगे सम्बन्धियों से गले मिलती हैं। प्रातः अपने सगे सम्बन्धियों के घर जा कर खाना खाती हैं। दिन के समय सभी एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं फिर 'घुरैंही' के गाने का दौर चलता है। गाने के साथ साथ उन युवतियों का नाम भी आरम्भ होता है। प्रथम लोकगीत उसी तरह 'पिंदड़ी' के लोक गाने से आरम्भ होता है जो एक दुःखी बहन के दिल की दुःखद गाथा है। मायके के मोह का दर्पण है और ससुराल में मिलने वाली यातनाओं का दिग्दर्शन है जिस का वर्णन गीतों की क्रमिक कड़ियों में इस प्रकार से है :-

"बसन्तु ता फुल्ले माए घामी-घूमे
रित आइया संघड़ोणी हो
अम्मा ता मेरिए कुण तुहार आया हो?"

'बसो' का त्यौहार समीप आने पर एक विवाहिता युवती को बैशाखी की याद आने लगती है। इसी आभास पर वह माता से पूछ बैठती है कि 'बसन्दु' नामक सरसों की तरह के पीले फूल अपने क्रम से फूल पड़े हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऋतु बहुत ही सुहावनी आरम्भ हुई है। हे माता! मुझे बताओ तो सही कि कौन सा त्यौहार समीप आया है ?

इस पर माता भावुकता से उत्तर देती है:—

"धीये तू मेरीए बसोआ तुहार आया हो!"
हे मेरी लड़की! बसो का त्यौहार आया है।

इस पर लड़की अपना आग्रह करती है :-

'अम्मा तू मेरिये मेरे बापु जो सादा भेजे हो।'

लड़की अपनी माता से आग्रह करती है कि उसके पिता को उसे बुलावे के रूप में भेजा जाय ताकि वह मायके आ सके।

इस पर माता अपनी पुत्री को उत्तर देती है :-

बापु ता तेरा धीए चम्बे चाकरी हो,
ऐ अप्पु आणा अप्पु जाणा हो।'

माता अपनी विवशता प्रकट करती है कि उस का बापू तो चम्बा में नौकरी पर है अतः वह स्वयं अकेली आ जाए और अकेली ही वापिस चली जाय।

तिस पर लड़की अपना आग्रह जारी रखती है :-

'अम्मा तू मेरिए मेरे भाइए जो सादा भेजे'

यदि माता तू बापू को नहीं भेज सकती तो मेरे भाई को ही भेज देना। मैं उस के साथ ही मायके आ जाऊंगी।
इस पर माता अपना उत्तर देती है :-

"भाइया ता तेरा धीए निक्का याणा
अप्पु आणा वो अप्पू जाणा हो।"

तेरा भाई तो अभी छोटा है, उस का आना असंभव है अतः स्वयं आओ और स्वयं जाओ।

इस पर लड़की के दिल में विद्रोह की भावना जागृत होती है और वह रोषपूर्ण शब्दों में कह उठती है :-

"भेजणा ता भेजी दीएं न ता
चिड़ी बरहेड़ी बणी इल्ली हो"

अर्थात, यदि माता तू ने किसी को भी बुलावे के रूप में नहीं भेजा तो एक बरहेड़ी नामक चिड़ी का रूप धारण कर के आऊंगी। इस गीत की कड़ी में लड़की की भावनाएं इतनी उद्वेलित होती हैं कि वह मायके के विछोह में आत्महत्या तक कर डालने का हौसला रखती है। वह अब विद्रोह कर बैठती है।

जब वह देखती है कि माता ने उस की भावनाओं की परख नहीं की है और उस की संवेदनाओं का मूल्यांकन नहीं किया है तो वह अपनी सास से प्रार्थना करती है कि उसे मायके भेजा जाय। वह अपनी सास से कहती है :-

"सबता बी नुम्रां सासो पैइय जांदी ए ।
मिन्जो बी पंइए दा चाव हो ।"

हे सास ! सब की तुंहें मायके जाती हैं मुझे भी मायके जाने का चाव है । पर निष्ठुर सास उस के घाव पर यूं नमक छिड़कती है :–

"सबना दे सादे नुएं भ्राई पुज्जे तेरा न सादा कोई हो !'

सब के बुलावे आ गए हैं पर नुंहे ! तेरा बुलावा कोई नहीं आया अतः तुझे कैसे मायके भेजा जाय । कितनी मार्मिक चोट है उस के कोमल हृदय पर ! क्या सोचा होगा उस ने ! कितना निष्ठुर समाज है कि उस की कोई नहीं सुनता ? परन्तु उस लड़की के दिल में फिर भी उमंग है । वह ग्लानि का सामना करना चाहती है और अपना आग्रह लागू रखती है :–

"दराणियां जठाणी सासो डाइयां मारे मुन्जो बी पंइए भेजे हो"

सास से वह आग्रह करती है कि यदि उसे मायके जाने न दिया तो उसकी देवरानी और जठाणी उस पर ताने कसेंगी जो उस के लिए तीर के समान होंगे और जिन को सहना उस के लिए कठिन हो जाएगा ।

इतना कहते और सोचते उस का भाई भी आ जाता है । उसे उपहार स्वरूप पिदड़ी ले आता है परंतु उस पिदड़ी को तो निष्ठुर सास उस तक पहुंचने ही नहीं देती अतः वह भाई से अपना दुःखड़ा सुनाती है :–

"चले ता चले भाईया बंइया बौंधे
सुरहाड़ी रा दुःख सुख लांदे हो ।"

हे भाई ! चलें उधर बरामदे पर बैठते हैं और ससुराल का दुःख सुख का वर्णन करते हैं । वह अपने भाई से सास के अवांछनीय व्यवहार की कथा सुनाती है :–

पिन्दड़ी ता पिदड़ी भाइया अप्पु खाए,
ऐरे दे पट्ठे मुंजो दित्ते हो ।"

पिदड़ी को तो सास स्वयं खा गई है और केवल ऐरे के पत्ते मुझे दिए हैं ।

आपु ता खाए भाइया घिउए–चुरे, छाहे दी छेड़ी मुंजो विति हो ।

घी घी तो स्वयं खा लिया है तथा बची खुची छाछ सी मुझे दी है ।

इस पर वह आगे भी कहती है :–

"भाइया ता मेरिया मेरी चितरी घड़ोली भजी गिआ हो—"

हे मेरे भाई मेरी चित्रकारी की घड़ोली टूट गई है । जिस के लिए मुझे सास तंग करती है ।

इस पर उस का भाई उस को यह कह कर सांत्वना देता है :–

बहणे ता मेरिये तुजो नई घड़ोली देला हो,

और उसे नई घड़ोली भी ले आता है । अब बहन फूली नहीं समाती और सास को कहती है:–

"भितलु घुम्राड़े सासो मंई होर घड़ोली अंदी हो—"

हे सास ! दरवाजा खोलो ! मैंने और घड़ोली लाई है । पर सास भी तो अपनी ज़िद पर अड़ी थी, अतः प्रत्युत्तर में कहती है :–

"नुएं ता मेरिए मुं संइए घड़ोली लंणी हो ।"

हे नुंहे ! तो मुझे वही घड़ोली चाहिये । मरे मुरदे तो वापस नहीं होते पर वह शिकायत ले कर भाई के पास जाती है और कहती है :–

"भाइया ता मेरिया, सस संई घड़ौली मंगदी हो"।

तिस पर भाई उस को फिर साहस देता है :–

"बहन तु मेरिए अऊं सुन्ने घड़ोली बिल्ला हो।

इस पर वह अपने भाई से आश्वासन चाहती है :–

"इतणी ता गल्ला भाईआ तेरे कने, मेरी अम्मा रा मत हो गलांदा हो।"

इतनी कथा समाप्त होने पर भाई वापस घर आता है तथा अपनी माता से बहन के साथ हो रहे अत्याचार के विषय में कहता है :–

"कुरले ता कुरले अम्मा नवी-घिरे ऐं
नवी गिरेंवड मगरमच्छ हो !"

चोट बहुत दूर पहुंच गई है । भंवरमयी नदी में मगरमच्छ घूमते हैं । ससुराल एक भंवरमयी नदी है जिस में निष्ठुर सास मगरमच्छ के समान है । इस के आगे भाई फिर माता से स्पष्टीकरण देता है :–

Scanned with CamScanner

"अम्मा तू मेरीए मेरी बहणा दी कबड़ी सुरहाड़ी हो ।"

हे मेरी माता ! मेरी बहन का ससुराल काफी कठिन है जहां उसे कई यातनाएं सहनी पड़ती हैं ।

इस के आगे भाई और कहता है :–

"बीवा न दीणी लोको नदी पारे ए
अपणा न मिलदा बैरी कोई हो ।"

वह अपनी बहन की दशा देख कर सुझाव देता है कि बहन को नदी पार नहीं विवाहना चाहिये । वहां अपना बैरी तक भी नहीं मिलता है । चोट करारी है । अपने गांव का बैरी भी अच्छा । अतः वहां अपने गांव का बैरी भी मिल जाय तो भी अच्छा । शायद यह अंतिम गाने की पंक्तियां उस समय के समाज का दर्पण प्रस्तुत करती हैं जब नदी को पार करने के लिए पुल न होते हों । नदी को पार करने के लिए किसी सहायता की आवश्यकता होती होगी । यहां नदी में मगरमच्छ का भी डर होता होगा ।

इसी प्रकार इस गाने के बाद कई अन्य संयोग और वियोग सम्बन्धी लोक गीत, एक के बाद दूसरा गाया जाता है। सारा दिन यही क्रम चलता रहता है । गाने के साथ नाच में पैर की थिरकन भी चलती रहती है ।

अपनी वेश भूषा में युवतियों का समुदाय देखते ही बनता है ।

इस प्रकार 'बसों' का त्यौहार सम्पन्न होता है ।

—मुख्याध्यापक,
राजकीय उच्च विद्यालय छतराड़ी, चम्बा,
हिमाचल प्रदेश ।

वि वि धा

भावनाओं का चितेरा उभरता चेहरा: मुन्शी राम

—डा0 सुशील कुमार फुल्ल

विश्व के चित्रकला इतिहास में पहाड़ी चित्रकला का विशिष्ट स्थान है। पहाड़ी चित्रकला में भी कांगड़ा कलम अपना अलग ही स्थान रखती है । कांगड़ा कलम के महत्व का इस बात से भी पता चलता है कि कला जगत् में पहाड़ी चित्रकला को कांगड़ा कलम का ही पर्याय माना जाता रहा है । कांगड़ा कलम न केवल हिमाचल की क्षेत्रीय-संस्कृति को ही मुखरित करती है अपितु राष्ट्रीय महत्व का भी आभास देती है।

कांगड़ा कलम का पल्लवन एवं पुष्पन तीन मुख्य केन्द्रों पर राजाश्रयों में हुआ है। ये हैं–गुलेर, नूरपुर तथा टीरा सुजानपुर ! धीरे धीरे गुलेर की चित्रकला ने अपना अग अस्तित्व बना लिया तथा कांगड़ा कलम मूलतः पालमपुर एवं सुजानपुर टीरा में प्रश्रय पाकर विककासोमुख रही। राजा हमीर चन्द (1700–47) ; राजा अभय चन्द (1747–50) राजा घमण्ड चन्द (1751–74) तथा राजा संसार चन्द (1775–1823) के समय में कांगड़ा चित्रकला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। राजा संसार चन्द की कलाप्रियता ने दूर दूर के कलाकारों को आकर्षित किया था तथा हर प्रकार की सुख सुविधा प्रदान कर कलाकारों को साधनारत होने का सुअवसर प्रदान किया। राजा संसार चन्द के समय में बहुत से कलाकार गुलेर आदि स्थानों को छोड़ कर उनके आश्रय में आ गये ।

कांगड़ा कलम की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए श्री किशोरी लाल वैद्य ने पहाड़ी चित्रकला (1969) के पृष्ठ 111 पर लिखा–कि "यह चाहे रेखाओं का प्रवाह है अथवा रंगों का आयोजन, लयात्कता है अथवा सन्तुलन, आकृति अंकन है अथवा वास्तु और प्रकृति का चित्रण ; इन सभी में कांगड़ा कलम की अपनी देन है, उस की अपनी विशिष्टता है जिस में हमें ढूंढने पर भी कोई दोष अथवा त्रुटि नहीं मिलती । चित्र अपनी सम्पूर्णता में मन को खींचता है, उसे रस विभोर करता है ।" कांगड़ा की चित्रकला में कृष्ण लीला, प्रेम एवं सौन्दर्य का अंकन तथा प्रकृति चित्रण प्रमुख है ।

कांगड़ा चित्रकला की परम्परा आज भी कहीं कहीं दिखायी दे जाती है । आज भी इस में ऐसा कुछ विशिष्ट है जो किन्हीं कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित करता है । कुछ एक स्थानों पर कलाकारों के प्रशिक्षण के लिये सरकारी अर्ध-सरकारी प्रबन्ध भी किये गये हैं । पहाड़ी चित्रकला के विधिवत प्रशिक्षण के लिये यदि कोई स्कूल अथवा कालेज खोला जाए तो इस से युवकों को आजीविकोपार्जन के लिये व्यावसायिक शिक्षा दी जा सकती है।

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का परिचय अचानक एक युवक-चित्रकार श्री मुंशी राम से हुआ. . .उस युवक से जो अपनी कला-कृतियों को उठाए ग्राहक ढूंढता बाजार में घूम रहा था । उन आकृतियों में रंगों की बनावट, रेखाओं का अंकन, भाव-मुद्राएं इस प्रकार चित्रित थी कि वे दर्शक को मोह लेती थीं। जिज्ञासा होने पर मैंने चित्रकार मुंशी राम से कुछ प्रश्न पूछे, जो उसके उत्तरों सहित नीचे दिये जाते हैं—

प्रश्न: मुंशी राम जी, आप कांगड़ा-कलम के चित्रकार हैं, आप कांगड़ा के रहने वाले हैं ?

उत्तर: जी नहीं, मेरा जन्म 20-4-50 को रूणू कोठी, तहसील भरमौर, ज़िला चम्बा में हुआ था !

प्रश्न: आप के पिता क्या करते हैं ?

उत्तर: (मुंशी राम की आंखों में जल तैर आता है ।) जी, मेरे पिता की मृत्यु हो चुकी है !

प्रश्न: आप के पिता क्या काम करते थे ?

उत्तर: जी ! गद्दी लोग या तो भेड़-बकरियां पालते हैं या फिर थोड़ी-बहुत खेती करते हैं ।

प्रश्न: तो आप गद्दी हैं ?

उत्तर: जी, राजपूत गद्दी ।

प्रश्न: आप ने अपने पिता का व्यवसाय क्यों नहीं अपनाया ?

उत्तर: मुझे बचपन से ही अपना परिवेश कुछ विचित्र सा लगता रहा था । प्राकृतिक सौन्दर्य घंटों मुझे बांधे रखता । मे एकटक प्रकृति की रूप-राशि का रसास्वादन करता । कल्पना में ही कभी प्रकृति के सौम्य रूप का कभी के भयंकर रूप का चित्र उतारा करता । लेकिन भेड़ें चराने में मेरा मन कभी नहीं रमा !

प्रश्न: गद्दी लोग तो जीवन भर इसी काम में मग्न रहते है।

उत्तर: सो तो है परन्तु ऐसा जीवन तो भेड़-बकरियों के समान ही है, जो खा-पी कर मृत्यु की ओर बढ़ती हैं । कुछ सृजन की चाह होती है, कुछ कर निकलने की लालसा होती है ।

प्रश्न: आप का अभिप्राय है मनुष्य को महत्वाकांक्षी होना चाहिए ।

उत्तर: जी, बिल्कुल ! मनुष्य के जीवन में इस के बिना और. . . और होता ही क्या है ?

प्रश्न: मुंशी राम जी, आप को बचपन से ही चित्रकला में रुचि रही है परन्तु आप ने स्कूल अथवा कालेज में शिक्षा नहीं पाई ! क्यों ?

उत्तर: मेरे वश में होता तो मैं आरम्भ से ही किसी चित्रकला-प्रशिक्षण-केन्द्र मे प्रविष्ट हो जाता ! परन्तु जो होता है सो ठीक ही होता है लेकिन मैं संघर्ष में विश्वास रखता हूं । संघर्ष के बल पर ही मैं यहां तक पहुंच सका हूं ।

प्रश्न: आप अपनी प्रगति से सन्तुष्ट हैं ?

उत्तर: बिल्कुल नहीं ! सन्तुष्ट मैं इस बात से हूं कि ठीक स्थान पर आ गया हूं और ठीक दिशा में पहुंचने के लिये प्रयत्नशील हूं ।

प्रश्न: यह तो बड़ी प्रशंसनीय बात है । आप ने कांगड़ा चित्रकला का विधिवत प्रशिक्षण भी प्राप्त किया है ?

उत्तर: मैं ने सन् '74 से 76' तक हिमाचल प्रदेश के दस्तकारी विभाग रैत में प्रशिक्षण लिया । वहीं कांगड़ा कलम का प्रशिक्षण Apprenticeship Scheme Kangra Painting के अधीन लिया ।

प्रश्न: आप के गुरु कौन है ?

उत्तर: श्री चन्दूलाल रैणा ! उन का सम्बन्ध कांगड़ा-शैली के चित्रकारों से रहा है !

प्रश्न: कांगड़ा-चित्रकला में विशेषता क्या है ? आप क्यों कांगड़ा चित्रकला में रुचि रखते हैं ?

उत्तर: कांगड़ा-चित्रकला में सौन्दर्य का चित्रण प्रमुख है । प्रेम की लीलाओं, कृष्ण लीला, दूती-सन्देश आदि अनेक स्थितियों का चित्रण मिलता है।

प्रश्न: आप को सब से अधिक कौन-सी आकृतियां अच्छी लगती हैं ?

उत्तर: जैसा मैंने अभी कहा कि प्रेम एवं सौन्दर्य तथा प्रकृति चित्रण !

प्रश्न: आप ने कैसी कला-कृतियां बनाई हैं ?

उत्तर: मुझे राजे-महाराजाओं के नाज़ नखरे, बैठने उठने के ढंग बहुत आकर्षक लगते हैं तथा मैं उन्हीं को अपनी कृतियों में ढालने का प्रयास करता हूं ।

प्रश्न: आप ने आम आदमी को क्यों भुला दिया है !

उत्तर: आम आदमी तो मैं हूं ही । आम आदमी की भावनाओं का चित्रांकन तो स्वत: आ जाता है ।

प्रश्न: आप ने कुल कितने चित्र बनाए हैं ?

उत्तर: लगभग 150 ।

प्रश्न: कोई चित्र प्रकाशित करवाया ?

उत्तर: अर्थाभाव, और फिर मेरा प्रचार ही कहां है हिमाचल के चित्रकारों के लिये मार्किट कहां है ?

प्रश्न: क्या आप जानते हैं कि हिमाचल कला-संस्कृति तथा भाषा अकादमी कलाकारों तथा लेखकों को प्रोत्साहन देती है तथा उन की कई ऐसी योजनाएं हैं जिन के अन्तर्गत आप को भी सहायता एवं संरक्षण मिल सकता है ?

उत्तर: जी, मेरे ज्ञान में नहीं । आप कभी विस्तार से बताएं तो मैं वहां भी अपनी कलाकृतियां भेज सकता हूं ।

प्रश्न: आप का निर्वाह कैसे होता है ? मेरा अभिप्राय आप का आजीविकोपार्जन ?

उत्तर: चित्र ही चित्र ! कभी बिक जाते हैं , तो कभी मन्दा भी रहता है ! पर्यटकों की नजर पड़ जाए तो कुछ बन पाता है । आम लोग तो कम ही खरीदते हैं ।

प्रश्न: आप को चित्र का अधिक से अधिक मूल्य क्या मिला है अब तक ?

उत्तर: चालीस-पचास रुपये मिल जाते हैं । वैसे किसी किसी चित्र के तो 60.70 रुपये भी मिल जाते हैं । एक चित्र के 75 रुपये भी मिले थे ।

प्रश्न: अच्छा, एक प्रश्न और । आप की भविष्य की योजनाएं क्या है ?

उत्तर: योजनाएं ? बस कोई बढ़िया सा स्थान मिल जाए. . . रंग हों तूलिका हो. . . दो वक्त भोजन मिल जाए तो मैं कांगड़ा-चित्रकला को पुनर्जीवित कर के दिखा सकता हूं ।

मैं मुंशी राम जी का धन्यवाद करता हूं । उस के जाने के बाद भी उस की आकृति, भावनाएं, आक्रोश एवं समस्याएं मेरे मन पर छाई रहती हैं । फिर सोचता हूं कि संघर्ष के पथ पर चलने वाला मुंशी राम निश्चय ही एक दिन चमकेगा तथा कांगड़ा कलम को भी चमकाएगा । कला में उस की सोद्देश्यता निश्चय ही उसे मंगल—कार्यों में प्रवृत्त करेगी ।

फिर मेरे मन पर मुंशीराम द्वारा बनाई गयी कलाकृतियों की छाप उघड़ने लगती है . उघड़ती ही रहती है. . . . भावनाओं का चितेरा . . . . उभरता चेहरा, मुंशी राम ।

—कृषि कालेज, पालमपुर,
ज़िला कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) ।

हिमाचल में आयुर्वेद का अतीत

—सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हिमालय पर्वत भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं साधकों की तपोभूमि रहा है । इसी भूमि पर अवस्थित तपोवनों में, नागरिक जीवन के कोलाहल से दूर, नैसर्गिक सौन्दर्य एवं शान्तमय वातावरण में, इन महर्षियों ने भौतिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक ज्ञान-विज्ञान का विकास किया जो इस देश के प्राचीन साहित्य, सांस्कृतिक जन-जीवन और परम्पराओं में सुरक्षित है । भारत का यह गौरवशाली अतीत, उसका ज्ञान-विज्ञान, काल के प्रवाह में, विदेशी आक्रमणों और दासता के दुष्प्रभाव में लुप्त-प्रायः हो गया है और आज इसके पुनः प्रतिष्ठापन की आवश्यकता को अनुभव किया जा रहा है ।

हिमाचल प्रदेश में (इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के कारण) भारत के इस गौरवशाली अतीत को यहां की परम्पराओं, सांस्कृतिक जन जीवन, मन्दिरों और ऐतिहासिक स्थलों में स्पष्ट देखा जा सकता है । हिमाचल में आयुर्वेद का उज्जवल अतीत रहा है—

एकदा हिमवत्पार्श्वे वेवावगत्य सङ्गताः ।
मुनयों वध्वस्तेषा नामभि कथ्याम्यहम ॥
. . . . चरक संहिता. . . .

मर्त्यलोक में आयुर्वेद के प्रारम्भ का इतिहास मुनियों की उस गोष्ठी से प्रारम्भ होता है जिसमें उन्होंने रोगों से मुक्ति से सम्बन्धित पहली बार विचार-विमर्श किया था यह गोष्ठी 'चरक संहिता' की उपरोक्त कथानुसार 'हिमत्पार्श्वे' अर्थात हिमालय के 'पार्श्व' में सम्पन्न हुई थी और सम्भवतः वह स्थान वर्तमान हिमाचल प्रदेश ही था । क्योंकि इस गोष्ठी में सम्मिलित होने वाले अधिकांश ऋषि मुनियों ने इस प्रदेश की उपत्यकाओं और पर्वत-श्रेणियों को अपनी साधना-भूमि बनाया था ।

बाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड में कैलाश शिखर और काञ्चन पर्वत का वर्णन है जिन्हें औषधि-पर्वत की संज्ञा दी गई है । हनुमान इसी पर्वत के एक भाग को जिसमें मृत संजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी तथा संधानकरणी औषधियां थीं, उठाकर ले आये थे जिनसे सुषेण वैद्य ने लक्ष्मण तथा युद्ध में आहत वानर-सेना का उपचार किया था।

एक किवदन्ती के अनुसार महापराक्रमी हनुमान ने उपरोक्त अभियान में शिमला के जाखू हनुमान मन्दिर के स्थान पर निवास करने वाले एक ऋषि से कुछ देर रुक कर औषधि-पर्वत का मार्ग और परिचय पूछा था ।

महर्षि चरक ने 'चरक संहिता' में विभिन्न स्थलों पर हिमाचल के अनेक स्थानों, यथा कैलाश, किन्नर प्रदेश, गन्धर्व प्रदेश, आदि का वर्णन किया है और इन्हें अनुपम वनौषधि सम्पदा का भण्डार कहा है ।

यवन और हूण आक्रमणों के युग में आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओं के ज्ञाता ऋषि मुनियों ने अपने ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए इस पर्वतांचल को अपने निवास और अध्ययन का कार्य-क्षेत्र बनाया । इस शास्त्र के प्रवर्तक और प्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षु नागार्जुन इस शास्त्र के शोध-कर्ता गोरख नाथ, भैरव नाथ आदि ने यहीं पर अपना शोध-कार्य सम्पन्न किया और आयुर्वेद को चामत्ककारिक औषधियां प्रदान कीं । ज्वालामुखी तथा अन्य मन्दिरों में इन सिद्धों तथा नाथों की मूर्तियां प्रतिष्ठित है, जिनकी आज भी हिमाचल के लोग श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं ।

इस विद्या और तंत्र सिद्धि में पारंगत भैरवानन्द नामक कापालिक हिमाचल की एक जन-जाति 'कोल' या 'कोली' से सम्बन्ध रखते थे । गोरख नाथ के गुरू मत्स्येन्द्र नाथ (मछिन्द्र नाथ) का वर्णन हिमाचल के लोकगीतों और गाथाओं में पाया जाता है ।

महाकवि कालीदास ने अपनी रचनाओं विशेषतः 'कुमार सम्भव' में किन्नर और कैलाश प्रदेश की वनौषधियों , धातुओं, रत्नों एवं फूलों का वर्णन किया है और इनके आयुर्वेदीय महत्व और गुणों को उद्घाटित करते हुए अपनी उपमाओं में स्थान दिया है ।

हिमाचल की वनौषधि-सम्पदा का वर्णन विभिन्न पुराणों और आयुर्वेद के ग्रंथों में मिलता है ।

मध्य-काल में हिमाचल की विभिन्न रियासतों के राज्याश्रय में आयुर्वेद के ज्ञाता वैद्य रहते थे जिनका वर्णन लोक-साहित्य में यत्रतत्र मिलता है । ब्रिटिश शासन काल में भी आयुर्वेदीय ज्ञान की यह परम्परा, इस प्रदेश के लगभग प्रत्येक गांव में रहने वाले जड़ी बूटियां के जानकार और पारखी लोगों में चली आई जो इन औषधियों के चामत्कारिक प्रभाव से लोगों को रोगमुक्त करते रहे । आज भी यह परम्परा वर्तमान है । हिमाचल के गांव के बूढ़ों तथा आदिम जातियों के लोग असाध्य रोगों को इन औषधियों से ठीक करते हैं ।

कांगड़ा में 'नकेहड़े' नाम की एक विशेष जाति के लोग शल्य-तंत्र में पारंगत थे । श्री बर्निस ने सैटलमैंन्ट रिपोर्ट 1850 में लिखा है कि ये लोग सीनोप्लास्टरी में कमाल की दक्षता रखते थे । कटी नाक के स्थान पर नई नाक लगा देते थे और चेहरे के सौंदर्य में कोई अन्तर न आता था । इस क्रिया को इन लोगों से विक्टोरिया के राज्य में अंग्रेजों ने सीखा था । इस विद्या का अन्तिम ज्ञाता एक सुन्दर नाम का व्यक्ति था जिस के कौशल को श्री रघुनन्दन शास्त्री ने स्वयं देखा था ।

Scanned with CamScanner

टाकरी लिपि में आयुर्वेद और ज्योतिष से सम्बन्धित कुछ ग्रंथों की हस्तलिपियां मिली हैं जिन
प्रतीत होता है कि इस प्रदेश में उस समय आयुर्वेद का कितना महत्वपूर्ण स्थान था ।

संकेत-सूची

1. कांगड़ा की संस्कृति, जन साहित्य, पंजाबी विश्वविद्यालय, पार्वती लोक मानस विशेषांक—अंक 6, 7 पेज, 13, 14 ।
2. चरक संहिता-रसायनाध्याय चतुर्थपाद ।।3।।
3. आयुर्वेद का बृहत इतिहास-अत्रिदेव विद्यालंकार-प्रथम संस्करण-
4. राजशेखर विरचित 'कर्पूर मञ्जरी' में कापालिक भैरवानन्द स्वयं को 'कोल' कहते हैं ।
   रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मांसं पिज्जरा खज्जरा ।
   भिक्खा भोज्जं चमखेडं च संज्जा कोलो धम्मों कस्सणो भोदि रम्यो ।
5. India—What It Can Teach Us Max Muller.

—क्षेत्रीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय,
शिमला-2
(हि० प्र०)

अकादमी की गतिविधियां

प्राक्कथन:—

(क) हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी की स्थापना हिमाचल विधानसभा द्वारा सितम्बर 1970 में पारित एक प्रस्ताव के अनुसरण में हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा की गई थी। सरकार द्वारा अधिसूचित संविधान के अनुसार डा० यशवन्त सिंह परमार इसके मुख्य संरक्षक और श्री लालचन्द प्रार्थी इसके संरक्षक हैं। प्रदेश सरकार के भाषा-संस्कृति मंत्री इसके पदेन अध्यक्ष हैं। इस अकादमी का उद्घाटन समारोह 2 अक्तूबर, 1972 को हुआ था।

(ख) अकादमी के संविधान के अनुसार इसके तीन प्राधिकरण हैं, सामान्य परिषद, अधिशासी निकाय और वित्त समिति। इसके अतिरिक्त अधिशासी निकाय को अधिकार है कि वह यथावश्यकता उपसमितियां बना सकती है। इसके प्रयोजनों में मुख्य हैं—पहाड़ी, हिन्दी, संस्कृत एवं उर्दू, इन चार भाषाओं और उनके साहित्य को प्रोत्साहन। नाट्यकला, चित्रकला का प्रोत्साहन। भाषा और कला के क्षेत्रों में उपयुक्त छात्रवृत्तियों की संस्थापना। समारोह, संगोष्ठियों और प्रदर्शनियों का आयोजन, आदि।

(ग) प्रदेश सरकार अकादमी को वित्तीय सहायता देती है, उसी के अनुसार कार्य की योजनाएं बनाई जाती हैं और उनका निष्पादन किया जाता है। अब तक सरकार द्वारा दी गई वित्तीय सहायता का विवरण इस प्रकार है :

क्रमांक	वर्ष	वित्तीय सहायता की राशि रुपये
1.	1971—72	40,000
2.	1972—73	1,40,000
3.	1973—74	1,00,000
4.	1974—75	50,000
5.	1975—76	90,000
6.	1976—77	1,00,000
	कुल	5,20,000

छः सालों में सरकार की ओर से पांच लाख बीस हजार रुपये की सहायता प्राप्त हुई। यह रकम अकादमी के संविधान में उल्लिखित विविध प्रयोजनों के लिए बहुत ही कम थी। इसलिए मुख्य मंत्री महोदय ने अपनी विवेकाधिकार की निधि से एक लाख रुपये की रकम प्रदान की थी। और कृषि मन्त्री महोदय ने पांच हजार रुपये की रकम। इससे अकादमी की योजनाओं के निष्पादन में काफी मदद हुई।

(घ) अकादमी के संविधान के अनुसार अधिशासी निकाय को पद सर्जित करने और उन पर नियुक्ति करने का अधिकार है और तदानुसार अकादमी ने 17 पद सर्जित किए हैं। परन्तु धनाभाव के कारण ये सभी भरे नहीं जा सके हैं। 31 मार्च 1977 तक इस सम्बन्ध में स्थिति इस प्रकार है :-

क्रमांक पद और वेतन मान	संख्या	भरा हुआ	खाली
1. अनुसन्धान अधिकारी 400-950	1	1	–
2. प्रकाशन सहायक -225-500	1	1	–
3. भाषा सहायक 225-500	1	1	–
4. कार्यक्रम एवं 225-500	1	1	–
5. संस्कृति सहायक प्रदर्शनी सहायक कुल 700 रुपये प्र0 मास	1	–	–
6. हैंडक्लर्क 225-500	1	–	1
7. चित्रकार 160-400	1	1	–
8. फोटोग्राफर 160-400	1	–	1
9. कार्यालय सहायक 160-400	1	1	–
10. स्टेनोग्राफर 160-400	1	1	–
11. क्लर्क 110-250	3	1	2
12. चपड़ासी 70-95	1	1	–
13. माली (कुल 225)	1	1	–
14. चौकीदार 70-95	1	–	1
15. स्वीपर (अंश कालीन)	1	1	–
	17	12	5

स्थापना और स्कीमों पर खर्च को 1 और 2 के अनुपात में रखने का प्रयत्न किया जाता है। पिछले वर्ष 1976-77 के आंकड़े हम यहां उदाहरण के लिए देते हैं :-

वर्ष	कुल खर्च	स्टाफ	यात्रा भत्ता	कार्यालय सेवाएं, स्कीमें आदि
1976-77	1,96,983	76,682	4,117	1,16,183

उपलब्धियों का सारांश :- जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अकादमी का उद्घाटन 2 अक्तूबर, 1972 को हुआ। उसके पश्चात अकादमी के विभिन्न प्राधिकरणों ने अकादमी द्वारा किए जाने वाले कार्यों की रूप रेखा बनानी आरम्भ की। कई स्वीकृत रूप रेखाएं अकादमी में धनाभाव के कारण आगे नहीं चल सकी। उपलब्धियों के सारांश को हम निम्नलिखित शीर्षकों में उल्लखित कर सकते हैं—

(क) प्रकाशन:-31मार्च 1977 तक अकादमी की निम्नलिखित पुस्तकें छप चुकी हैं।

क्रमांक पुस्तक का नाम	पृष्ठ संख्या	मूल्य रु0पै0
1. पहाड़ी लोक रामायण -हिमाचल प्रदेश में प्रचलित रामकथा के विषय में शोध-लेख	256	12-00
2. छनाट-भास के छै संस्कृत नाटकों का पहाड़ी में अनुवाद	167	12-00
3. माला रे मणके -पहाड़ी कविताओं का संकलन	183	6-00
4. ऋतम्भरा-संस्कृत कविताओं का संकलन	160	6-00
5. श्यामला-हिन्दी कविताओं का संकलन	158	15-00
6. इन्दु काव्यम् -सिरमौर और कांगड़ा की एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित संस्कृत काव्य।	83	15-00
7. कथासरवरी (दोभाग)-हिमाचल प्रदेश की लोककथाओं का पहाड़ी संकलन	163	5-00
8. सोमसी त्रैमासिक पत्रिका-हिन्दी माध्यम, भाषा साहित्य एवं कला और संस्कृति के सम्बन्ध में विशेषतया प्रादेशिक अध्ययन और सामान्यतया राष्ट्रीय अध्ययन के समीक्षात्मक लेख आदि।	100	12-00 3-00 प्रतिअंक

इन प्रकाशनों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकों का सम्पादन कार्य निष्पन्न किया गया है—

(1) **उर्दू काव्य संकलन**-हिमाचल के उर्दू शायरों के कलाम का मजमुआ एक किताब के रूप में छपवाया जा रहा है।

(2) **पहाड़ी भाषा साहित्य परिचायिका "ग्रंथ माला"**—इस स्कीम के अन्तर्गत हिमाचल प्रदेश के विभिन्न जनपदों की भाषा, स्वभाव और जीवन शैलियों की छोटी पुस्तकें प्रकाशित करने का विचार रखते हैं। इस प्रसंग की प्रथम पुस्तक शिमला पर्वतमाला के महासू जनपद के सम्बन्ध में है। इस का सम्पादन कार्य सम्पन्न किया जा चुका है।

(3) **बेई जुल्फू**:- कुल्लू के आटर सिराज के लोकगीतों का एक कथात्मक रूप इस पुस्तक में उपलब्ध है। स्वर्गीय श्री मेहर चन्द सुमन ने इसका संकलन किया था। यह पुस्तक प्रैस को मुद्रणार्थ भेज दी गई है।

(4) **पहाड़ी भाषा और साहित्य प्रमाण-पत्र परीक्षा पुस्तक**:—अकादमी ने यह पारित किया था कि स्कूलों और कालिजों के पाठयक्रमों से बाहर पहाड़ी भाषा-साहित्य की एक वैकल्पिक परीक्षा इच्छुक लोगों के लिए स्थापित की जाए। यह परीक्षा लगभग दसवीं ग्यारहवीं स्तर की होनी चाहिए और यह ऐच्छिक होगी। इसका पाठ्य-क्रम बनाकर स्वीकृत करवा लिया गया है और पुस्तक का संकलन-कार्य आरम्भ किया गया है।

ग्राम संस्कृति सर्वेक्षण:- हिमाचल प्रदेश में अनेक स्थान और ग्राम ऐसे हैं जिनका ऐतिहासिक महत्व महाभारत से भी प्राचीनतर है। ऐसे स्थानों में बिखरी पड़ी सांस्कृतिक सामग्री का संकलन करके विद्वानों के लिए उसे

Scanned with CamScanner

उपलब्ध करने के लिए एक योजना बनाई गई थी। उसके अनुसार रामपुर बुशैहर के सराहन क्षेत्र में कुछ कार्य भी आरम्भ किया गया था परन्तु धनाभाव के कारण यह आगे नहीं बढ़ सका।

अकादमी की वार्षिक रिपोर्ट 1976 क मद् संख्या 6(7) (पृष्ठ 16) से सम्बन्धित स्कीम का विवरण।

स्कीम—लेखकों को पुस्तक प्रकाशनार्थ वित्तीय सहायता :

1. हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी की पुस्तक प्रकाशन वित्तीय सहायता योजना के अन्तर्गत पहाड़ी भाषा में लिखित पुस्तकों को वित्तीय सहायता दी जाती है। इस की कार्य-विधि इस प्रकार है कि इच्छुक लेखक अपनी प्रस्तावित पुस्तक की पाण्डुलिपि अकादमी के कार्यालय को भेजेंगे। उन हस्तलेखों पर अकादमी निर्धारित प्रोफार्मा पर किसी विद्वान की राय लेगी। उस राय को अकादमी की पुस्तक प्रकाशन एवं मूल्यांकन उप समिति प्रस्तुत पाण्डुलिपि के अंकन के सन्दर्भ में जांचेगी और वित्तीय सहायता के रूप में कुछ राशि की सिफारिश करेगी जिस के आधार पर अकादमी का अधिशासी निकाय धनराशि स्वीकृति करेगा। स्वीकृत रकम की सूचना लेखकों को दी जाती है परन्तु रकम पुस्तक के प्रकाशित हो जाने पर अदा की जाती है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत हिमाचल के जन-जीवन एवं संस्कृति को स्पष्ट सजीव और जीवन्त रूप से चित्रित करने वाली हिन्दी एवं संस्कृत और उर्दू की पाण्डुलिपियां अकादमी द्वारा विचाराधीन लाई जा सकती हैं। कविता की पुस्तकों के सम्बन्ध में हिमाचली जन-जीवन वाली शर्त कठोरता से प्रवृत्त नहीं होती।

जुलाई, 1973 से दिसम्बर, 76 तक इस स्कीम के अन्तर्गत पुस्तकों पर स्वीकृत सहायता का विवरण नीचे प्रस्तुत है। जिन पुस्तकों के सामने प्रकाशित लिखा गया है, उन्हें वित्तीय सहायता की रकम दी जा चुकी है।

क्रमांक 1	पुस्तक का नाम 2	लेखक का नाम 3	स्वीकृत राशि 4	प्रकाशित 5
1.	कांगड़े दियां लोक कथां नीति कथा	श्री खुशी राम शास्त्री	500–00	प्रकाशित
2.	रंग बिरंगे फुल्ल	श्री नरेन्द्र अरुण	700–00	"
3.	कांगड़ें दी संस्कृति कनें लोक जीवन	श्री खुशी राम शास्त्री	700–00	"
4.	चान्दनी रे आशू	श्री सी0 आर0 बी0 ललित	500–00	"
5.	माण्हू शिखरा रे	श्री रूप शर्मा	500–00	"
6.	गीतानुवादी कांगड़ी	श्री बालक राम भारद्वाज	1000–00	"
7.	घाटियां री गूंजां	श्री देवराज शर्मा	1000–00	"
8.	बुद्ध विजय काव्यम्	श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री	2500–00	"
19.	स्हेड़यो फुल्ल	श्री शेष अवस्थी	800–00	"
10.	पहाड़ी भाषा-कुल्लुई के विशेष सन्दर्भ में	श्री एम0 आर0 ठाकुर	3000–00	"
11.	गोरी छैल लगदी	श्री ओंकार लाल भारद्वाज	500–00	प्रकाशित
12.	पर्वतों के ऊपर	डा0 सुशील कुमार फुल्ल	500–00	"
13.	बिट्टे चादर	श्री विद्यानन्द सरैक	600–00	"
14.	पहाड़ी लोकोक्तियां	श्री प्रेम शास्त्री	400–00	"
15.	ठण्डे पाणी रे डिभणू	श्री बालकृष्ण व खेमी राम वर्मा	800–00	"
16.	गीत गोविन्द का अनुवाद	श्री चक्रधारी शास्त्री	600–00	"
17.	विक्रमोर्वशीय का कांगड़ी अनुवाद	श्री दुर्गादत्त शास्त्री	700–00	"

अकादमी द्वारा इस योजना के अन्तर्गत अब तक पुस्तक प्रकाशन के लिए 32 हस्तलेखों पर 25,550 रु0 राशि अनुदान के रूप में स्वीकृत की जा चुकी है तथा 17 पुस्तकें इस सहायतानुदान से छप चुकी हैं।

जनपद और विवाह गीत

—शकुन्तला शर्मा

शिमला पर्वतमाला के अधिकतर भाग का प्रशासनिक नाम महासू रखा गया था। फिर, महासू एक सांस्कृतिक इकाई बना। महासूई सांस्कृतिक क्षेत्र का प्रसिद्ध जनपद क्योंथल है। क्योंथल शिमला पर्वतमाला की एक प्रमुख रियास्त थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक शिमला का गांव भी क्योंथल रियासत में ही था। जिस जगह आजकल शिमला है वहां तब सिमलू नाम का एक गांव था। वह गांव आज के शिमला के रिज मैदान के आसपास था। वहां एक चण्डीदेवी का मन्दिर था। जिसकी मूर्ति को एक घटना के फलस्वरूप मेजर कैनेडी ने सन् 1822 के आस पास आज की कालीबाड़ी में स्थापित करवाया था। क्योंथल की राजधानी जुन्गा में थी। यह स्थान शिमला से लगभग आठ मील दूर पूर्व की ओर है। जुन्गा से लगभग चार मील दूर उत्तर की ओर बीन नामक गांव है। किंवदन्ती है कि लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व इस गांव में कांगड़ा के नादौन क्षेत्र के चार परिवार आकर बसे थे। कुछ समय बाद वे परिवार अपने पूज्य देवता को नादौन से इस बीन गांव में ले आए थे। वह देवता नाग देवता था। सम्भवत: धुनाग था। इस क्षेत्र में आ कर उस देवता का नाम जुनगा देवता हुआ। इस देवता के गले में सर्प होता है। इस की प्रथम स्थापना बीन गांव में हुई। क्योंथल राजा के प्रहरी बीन गांव में इस देवता की चौकसी के रहते थे। बाद में इस देवता की उस मूल मूर्ति को जुनगा (पुराना जुनगा) स्थान पर ले जाया गया। वास्तव में जुनगा देवता की स्थापना होने पर ही उस स्थान का नाम जुनगा पड़ा है। इस स्थान पर एक विशाल शिला है, जिस पर बिठा कर क्योंथल के युवराज का राज्याभिषेक हुआ करता था।

क्योंथल रियास्त में कई स्थानों पर जुनगा देवता के मन्दिर हैं। कुछ का नाम जुनगा देवता ही है, परन्तु कुछ का नाम ग्रामी के नाम से पड़ा है। कहना होगा कि महासु देवता की तरह ही जुनगा देवता प्रसिद्ध रहा है। महासू देवता का सम्बन्ध जम्मू, काश्मीर के अमरनाथ मन्दिर के भगवान शिव के साथ जोड़ा जाता है और जुनगा का कांगड़ा क्षेत्र के नाग देवता से। वस्तुत: नाग देवता का मूल भी कुछ विद्वान काश्मीर से जोड़ते हैं। नृ-विज्ञान के विद्वानों का यह भी मत है कि संस्कृत में नग का अर्थ है पहाड़ और नाग का अर्थ है पहाड़ों पर रहने वाली जाति, विशेषत: जिसके जातीय ध्वज पर सर्प का चिन्ह था। काश्मीर में नाग का अभिप्राय पानी के चश्मे से है। साधारण बोल-चाल में नाग का अर्थ ऐसे श्वेत सर्प से है जो पानी के चश्मों के पास रहता हो और मानव जाति को हानि न पहुंचाता हो! जुनगा क्षेत्र के बीन गांव के आस पास आजकल भी श्वेत नाग को पूज्य मानते हैं।

क्योंथल रियास्त का कभी शिमला पर्वतमाला में बहुत महत्व था; धीरे-धीरे वह कम हुआ और होते-होते उसके केवल अठारह परगने रह गए। फिर नौ परगने पटियाला रियास्त में सम्मिलित

हुए और केवल नौ ही क्योंथल रियास्त में रहे। शिमला पर्वतमाला की लोक-संस्कृति और लोकाचार की यह प्रमुख विशेषता है कि वह प्रशासन के बदलने के साथ नहीं बदली। इस में धर्म शास्त्र की औपचारिकताएं तो हैं ही, साथ-साथ स्थानीय लोकाचार और देशाचार भी है। क्योंथल रियास्त का वह छोटा सा गांव सिमलू आज विश्व प्रसिद्ध शिमला है। देवदार पेड़ों से छितराई इस पवित्र भूमि ने न जाने कितने शरणार्थियों आक्रान्ताओं और सैलानियों को शरण, शान्ति और मोहकता प्रदान की है इस पावन भूमि के बेटों-बेटियों ने नगर बसाने वालों से दूर हट कर बसना अपना धर्म समझा।

शिमला के आस पास के क्योंथली परगने अपनी ग्राम्य-संस्कृति को अभी तक अपनी छाती से लगाए हैं। शिमला का पूर्व हमारी समझ में शिमला के पश्चिम से अधिक संरक्षणशील रहा है। परगना कलाक, जझोत, पराली, कलालठी, जाई, करोली, छबरोत और रतेश में ग्राम्या संस्कृति की निष्ठा, सादगी, विश्वास, भोलापन और कर्त्तव्यपरायणता हमें मानवीय मूल्यों का स्मरण कराते रहते हैं। शिमला की कुफरी के उत्तर-पूर्व में अठारह किलोमीटर दूर शिमला-चायल सड़क पर कोटी है। इस स्थान में क्योंथल रियास्त की रानियों का पौल था। कुछ पुराने महलात थे : अब नष्ट हो चुके हैं। कथेश्वर देवता का मन्दिर है। जुनगा देवता तो दुग्धाहारी है, वहां बलि नहीं दी जाती, परन्तु कथेश्वर देवता मांसाहारी हैं, बलि लेते हैं। उत्तरपूर्व में कोटी और दक्षिण-पश्चिम में शोगी, इन दो के मध्य में कुसुम्पटी और वहां का परीमहल, उसके सामने दक्षिण-पूर्व में क्योंथल की राजधानी जुनगा, उससे कुछ नीचे दोगड़ा पुल जहां अशनी और शिमले नदियां मिलती हैं, ये कुछ ऐसे स्थल हैं जिन के मध्य में प्राचीन लोक कथाओं और प्राचीन देवमन्दिरों की गाथाओं के सहारे क्योंथली लोक-संस्कृति के चौदहवीं शताब्दी के रूप का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चौदहवीं शताब्दी में यह समूचा पहाड़ी प्रदेश गुर्जर-शूलिक, सैनिक संस्कृति से अलग सामन्त-राजपूती जीवन शैली के निर्माण में अग्रसर था। उस समय राजपूत राजाओं की दरबारी संस्कृति और जनपदों की ग्राम जीवन-शैली दो अलग स्तरों पर विकसित होने लगी, इन दोनों के मध्य में संयोजक सूत्र देवता का था। देव जात्रा और देवता के जगराते राजा और ग्राम किसान को एक सांझी पहाड़ी संस्कृति में बांधते थे। इस क्षेत्र की संस्कृति यहां की विभिन्न विवाह पद्धतियों के आधार पर सुगमतापूर्वक समझी जा सकती है।

मानवीय जीवन का सर्वाधिक सामाजिक और सर्वाधिक सांस्कृतिक संस्कार विवाह है। इस संस्कार के संक्षिप्त विवरण से परिचित होना कई अन्य सांस्कृतिक अनुमानों का परिचायक होगा। विवाह का निश्चयन पुरोहित द्वारा लड़के और लड़की की जन्म कुण्डलियों के मिलान के अनुसार होता है। निश्चयन के बाद सर्वप्रथम 'समधा' (विवाह के लिए लकड़ी) का महूर्त निकाला जाता है। कौन सी लकड़ी की पहली सात समधें बनेगी, यह भी ज्योतिष के द्वारा निश्चित किया जाता है। वह लकड़ी किस के द्वारा काटी जायगी, यह भी ज्योतिष के द्वारा ही निश्चित किया जाता है। लगभग इसी समय 'रूपना' लगाया जाता है, अर्थात् लड़की के लिए ससुराल वालों की ओर से एक गहना और सभी कपड़े भेजे जाते हैं। फिर 'हाट-घराट' का मुहूर्त निकाला जाता है। तेल डालने का मुहूर्त, 'शान्तमण्डप' सजाने का मुहूर्त, थानटू-टीका लगाने का मुहूर्त, सुहागपिटारी भरने का महूर्त, वर का स्वागत करने का मुहूर्त, वधु को विदा करने का मुहूर्त और फिर वधु-प्रवेश का मुहूर्त, लगभग प्रत्येक कार्य मुहूर्त से होता है।

मानवीय जीवन में विवाह एक नैतिक और सांस्कृतिक घटना है। यह पशुजगत में नहीं है। सांख्यशास्त्र के आदिपुरुष और अनादि प्रकृति के प्राकृतिक और दिव्य सम्बन्ध का निरूपण मानव-जगत में नर और नारी के विवाह में रूपायित हुआ है। मानव सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में विवाह

की प्रथा नहीं की, सम्बन्ध वैसे ही बनते थे और टूटते थे । मानवीय मानस का जैसे-जैसे विकास हुआ, वैसे-वैसे एक के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न हुई और विकसित हुई । यह मानसिक विकास ही वास्तव में विवाह की प्रथा का मूल-स्रोत है ।

विवाह एक अनुष्ठान बना, विविध और विभिन्न प्रकार के मन्त्र और मंडप, पूजा-पाठ इस में आकर एकत्र हुए । इस विराट प्रकृति के अनेक रूपों से अनेक प्रतीक लेकर इस अनुष्ठान में जुटाए गये । नर और नारी के विवाह पर वैकुण्ठ से देवता भी फूल बरसाने लगे । विवाह ने नर और नारी को इतना मर्यादित किया कि देवताओं को ईर्ष्या होने लगी । हिमाचल प्रदेश को देवभूमि कहा जाता है और देवताओं की संख्या महासू और कुल्लू में अधिक है ।

महासू अर्थात शिमला पर्वतमाला का क्षेत्र अतिथि सत्कार के लिये सुप्रसिद्ध था, जैसे-जैसे आधुनिक सभ्यता के दहेज की न्यूनताएं इस भूखण्ड में प्रविष्ट हुईं वैसे-वैसे अतिथि सत्कार जैसे श्रेष्ठ धर्म के गलत अर्थ लगने लगे । इस देवभूमि में विवाह एक अनुष्ठान तो है ही साथ ही, एक देशाचार भी है । वास्तव में विवाह भारत में हर जनपद में अनुष्ठान कम और देशाचार अधिक है । अनुष्ठान पक्ष पुरोहित के द्वारा सम्पन्न होता है और देशाचार ग्राम्या नारियों के द्वारा । यह दूसरा पक्ष गीतों द्वारा सम्पन्न होता है । कुछ विवाहगीत पुरोहितों के मन्त्रों के पूरक होते हैं । कुछ मन्त्रों के स्थानापन्न, कुछ हृदय के स्थानापन्न , तथा कुछ नारी-हृदय की इच्छा अकांक्षाओं के व्याख्यान । देशाचार के कुछ अवसर और उनके गीत इस प्रकार हैं:—

तेल बटना लगाते समय:—तेल, हल्दी, मेंहदी आदि के मिश्रण या लेप को ही तेल बटणे का नाम दिया गया है । इस में वर और बधू को उनकी ही राशि की पांच या सात विवाहित सुहागन महिलाएं या कहीं यदि विवाहित स्त्रियों की संख्या कम हो तो उस राशि वाली कन्याओं को भी मिला लिया जाता है । तेल बटना मलने वाली भरजाइयां हास-परिहास करते हुए यह शुभ कार्य करती हैं तथा बाद में घर की अन्य स्त्रियां ये कार्य करती हैं । उनके अनुसार ही गीत की पंक्तियां गाती जाती हैं । जैसे:—

"तेलिया मेलिया तेल लिआवे,
अम्मा सुहागन तेल पावे ।"

इस प्रकार गीत के बोलों से पता लग जाता है कि अब वर या वधु के कौन तेल या बटना लगा रहा है ।

मेंहदी लगाते समय:—

मेंहदी वर और वधू दोनों को लगाई जाती है । राशि के अनुसार कोई भी भाभी या चाची तायी लगाती है । हाथ के साथ साथ पांव में भी मेंहदी लगाई जाती है । वधु की सखियां इसे विशेष चाव से लगाती हैं तथा उसके साथ साथ परिहास द्वारा वह अपना तथा वधु का मनोरंजन करती हैं ।

"अम्मा जी पुछे केई जे रंगे हाथड़ू ए लात
बिन्द्रा वणे चोड़े अम्मा केवड़े रे पात
तेती रंगे अम्मा हाथड़ू ए लात ।"

इस प्रकार बाद में सभी सम्बन्धी स्त्रियां वर या वधु से स्वाल करती जाती हैं और प्रत्येक को वर या वधु किस तरह जवाब देते हैं । यह इस गीत से स्पष्ट हो जाता है ।

मंडप सजाते समय:—विवाह के अनुष्ठान में मंडप सजाने का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, विभिन्न देवी देवताओं का आह्वान करने हेतु मंडप के देवताओं के प्रतीक बनाए जाते हैं और अग्नि प्रज्वलित की जाती है, मण्डप के चारों स्तम्भ केले के पेड़ के तनों से बनाए जाते हैं । चावल, मौली (लाल डोरी) दूबघास, पीला रंग, हल्दी , मिट्टी के बरतन के चार कलश आदि मण्डप की आवश्यक सामग्री हैं ।

मण्डप के समीप बैठकर गाने वाली मण्डली में अधिकतर कन्याएं होती हैं । पुरोहित मण्डप के लिए जैसे सामग्री की मांग करता है, वैसे गीतों के बोल गायन में उच्चरित होते है—

पूछे लाओ कुलो रे पुरोहतो,
केला लागौं वेदी रा सजौगी

वेद विवाह (मण्डप) के सजाने में किस किस वस्तु की आवश्यकता है, यह बात कुल पुरोहित से गीत के बोल के द्वारा पूछी जा रही है । देशाचार और पुरोहित के अनुष्ठान दोनों का तालमेल है । कुल पुरोहित उत्तर देता है—

केलवे रे खम्बे
वेदी ए लागौ ।

केले के पेड़ के तने वेद के चार स्तम्भ बनते हैं । पुरोहित का उत्तर है । केले के पेड़ का महत्व समूचे भारत में है । सम्भवत: दक्षिण भारत में इसका महत्व उत्तर भारत की अपेक्षा भी अधिक है । वनस्पति शास्त्र में सम्भवत: केले और पीपल के पेड़ का महत्व अन्य पेड़ों की अपेक्षा अधिक है । इसी तरह मण्डप की प्रत्येक वस्तु के लिए गीत का बोल है ।

मण्डप के सज जाने के पश्चात उस मण्डप में देवताओं के आशीर्वाद का आह्वान किया जाता है । गृहस्थ के प्रिय देव भगवान कृष्ण हैं अत: उन का आह्वान अधिक होता है ।

प्रसाही.—सेहरा बंदी के पश्चात् जब घोड़ी चढ़ता है तो गायन के साथ साथ दूल्हे के साथ छेड़ छाड़ शुरु होती है तथा गायन की पंक्तियां इस प्रकार चलती हैं—

1. **कृष्ण जी पूछे अम्मा अपणी शावरी दा चाव.**
   जाया जाया पुत्ता कुआरिया शावरी दे घरे ।

2. **धन्ने तो धन्ने अम्मा जी जिने पालगी बिठाया,**
   धन्ने तो धन्ने पिता जी जिने पालगी बिठाया ।

tharahkardu.in

Scanned with CamScanner

हवन.–हवन करते समय गीत की पंक्तियां बहुत भली लगती हैं जब एक तरफ स्वर्ग के देवता हवन की आहुति की सुगन्धि से प्रसन्न होकर प्रश्न करते हैं कि यह सुगन्धी कहां से आ रही है, उन्हें फिर उत्तर मिलता है कि ब्राह्मण के घर बेटा कुंआरा है उसके ऊपर यह घी और तेल आदि की वर्षा हो रही है :

पूजा जे होइया गणेशा रे हाथे
पूजा जे होइया गंगा जला रे पाणीये
अच्छा जे कुला रे पुरोहिता अच्छा जेहां वेद विचारे
इस में हीण न होए,

फेरे लगाते समय.–इस समय सब से पहले वर और वधू को एक सूत्र में बांध दिया जाता है और सात दीपक जलाए जाते हैं। तत्पश्चात वर और वधु आगे पीछे उस हवन कुण्ड के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। पहले छः फेरों में वधु आगे और वर पीछे होता है तथा वधु के पांव के अंगूठे से एक एक करके वर उन दीपों को पंडित की शर्तों को पढ़ने के बाद बुझाता है जिसका अभिप्राय यह लिया जाता है कि जो कुछ भी पंडित ने कहा वह वधु ने स्वीकार करना होता है। अन्तिम या सातवें फेरे में वर वधू से आगे चलता है और वह अन्तिम दीप को बुझाता है जिसका मतलब यह हुआ कि छः शर्तें वधु और एक शर्त वर द्वारा स्वीकार की जाती है। इस अवसर के गीत लम्बे नही होते क्योंकि यह कृत्य अनुष्ठान–प्रधान होता है। इस में पुरोहित का योगदान अधिक रहता है। स्त्री गीत बीच बीच में मंत्रों की एकाग्रता के माधुर्य रस मिलाने के लिए आते हैं।

बिदाई.–यह समय कुछ ऐसा होता है जिसमें मां, बाप, भाई, बहन के इलावा सभी उपस्थित सगे सम्बन्धी भी आंखों में आंसू लिए होते हैं, कहा जाता है कि वधु की विदाई के दृष्य से मनुष्य वहां के पशु–पक्षी एवं पेड़–पौधे व गलियां भी उदास हो जाती हैं।

1. **तेरे महलां दे अांदर बे बापू मेरा डोला अड़िया,**
2. **तेरे डोले नू घर देंऊ पहुंचा, धीए घर जाए आपणे,**
3. **तेरे महलां दे अन्दर बे, बापू मेरी अम्मा रोये,**
4. **तेरी अम्मा नू चुप देंऊ करा, धीए घर जा अपणे।**

इस प्रकार गीत की पंक्तियां आगे बढ़ती जाती हैं।

बारात की वापसी.–बारात जब वर के घर वापिस पहुंचती है उस समय घर सगे सम्बन्धियों से भरा रहता है। इधर खुशी और उल्लास से लोग बारात का स्वागत करने को बढ़ते हैं, उधर गीत की मधुर तान अपनी झंकार द्वारा लोगों को और भी उत्साहित करती है –

1. **"कुण जे आए नीलिए घोड़िए, कुण जे आए डोले जमाणे।**
2. **कृष्ण जी आए नीलिए घोड़िए, राधा जी आए डोले जमाणे।**

वधू के गृह प्रवेश करते समय.—

वधू जब घर में प्रवेश करती है तो उसका गृहलक्ष्मी के रूप में पूजन किया जाता है। तत्पश्चात् वह सम्बन्धियों के चरण–स्पर्श करती है। वह विभिन्न चीजें उन्हें भेंट करती हैं उसके बदले घर में बड़ा स्थान रखने वाले भी उसको भेंट देते हैं।

लाड़े दी लाडि़ए, भीतर जे शाशू सदाये, अन्दर आए बहूए ये घर तेरा।

जल पूजन और जल क्रीड़ा.–दूसरे दिन जिसे धाम का दिन कहा जाता है। उस दिन औरतें खूब गिद्दे नाचती हैं तथा उस दिन वर व वधू को पानी के पास ले जाया जाता है। उस समय पानी में वर और वधू द्यूत–क्रीड़ा भी खेलते हैं। वधू सबको अपने हाथ से पानी पिलाती हैं। इस के साथ साथ हास–परिहास भी चलता रहता है।

"सिया देइये राणीए पाणिया जों जाणा,
साथे वे सहेलिया तैयार कराइयां पाणिया जों जाणा॥

समय के प्रवाह के साथ सभ्यता के कारकों में तो अन्तर आ जाता है, परन्तु संस्कृति के महत्व मूल रूप में वही रहते हैं। सभ्यता यदि शरीर है, तो संस्कृति आत्मा है। सभ्यता बाहरी पक्ष है परन्तु संस्कृति आन्तरिक पक्ष है। बाहरी पक्ष पर बाहरी प्रभाव और विजातीय अंशों का मिलाप मिश्रण होता रहता है, जब वह मिलाप और मिश्रण अत्यधिक हो जाए तो संस्कृति वाला आन्तरिक पक्ष कुछ प्रतीकों और बिम्बों के सूक्ष्म रूप में अपने आपको जीवित रखता है। महासू क्षेत्र में विवाह प्रथा के अध्ययन की दृष्टि से कुछ विभिन्न स्तर हैं। उनकी पृष्ठ भूमि में भौगोलिक कारण इतने प्रबल नहीं, जितने प्रबल सामाजिक और जन जातीय कारण हैं। किन्हीं परिवारों के सामाजिक जीवन में धर्म–शास्त्रीय अनुष्ठानों और पुरोहित कर्म को अधिक महत्व है, और किन्हीं में जन जातीय देशाचार और लोकाचार का अधिक महत्व है। महासू क्षेत्र की विवाह–प्रथाओं और उन की क्रिया-विधियों का वैज्ञानिक सर्वेक्षण एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विषय है।

––गांव सरघीन,
डाकघर कुसुम्पटी,
शिमला।

STUDIES IN THE SYSTEMATICS OF HIMACHALI LINGUISTICS

—**Siddheshwar Varma**

I. INTRODUCTORY

"The hand and language, this makes Man" Says a French authority. Language is thus a huge complex representing the totality of all about man plus his hand .

II. LINGUSTICS: ITS SPECIFIC CHARACTERISTICS

Linguistics, as knwon to experts in the field, can be understood clearly only when it is definitely known what is not. (Linguistics) thus—

1. The meaning of words is not Linguistics.
2. The etymology of words e. g. Hindi 'हो' is derived from the verb यू is not linguistics.
3. The pronunciation of sounds, by itself, is not linguistics.
4. The catalogueing of similar sounds or of grammatical features, however magnificient, is not linguistics.
5. The heaping of mere hypotheses is not linguistics.
6. The symbological presentation of data is not linguistics.

II. LINGUISTICS: ITS SPECIFIC CHARACTERISTICS

If these negative bases, as detailed above, are adequate, Linguistics may be defined as "The demostration of the how and the why of all phenomena in language". with this definition the remark of a superb German authority may be mentioned that "Lingustics is neared to physiology of physics than to philosophy". The connection with philosophy is not rejected, for "Man" means his culture or philospshy as well, but for the sake of concentrated study of certain relevantly important aspects of man, it has been purposely restricted to the above mentioned domains.

III.,Exposition of the definition of Demonstration.

1. Demonstration is "showing" in the strict sense of the verb, that is to say, the hearer is convinced that the reasons given are adequate enough for the conclusion.

(2) "The how and the why" imply a "process", which has been defined from two points of view.

(*a*) Most important "process" is a series involving many stages".
(*b*) "Process" has an end in view. In this paramount purpose lies the apparent mere spontaneity of natural phenomena.

IV. DEFINITION OF PROCESS.

With the above data, process, the life and sound of linguistics phenomena, may be defined as follows :—

"Process is that series of successive and normal replacements developing into some definite end".

V. LINGUISTICS AS A TECHNIQUE.

The processive treatment of lignuistics is a tremendous technique, requiring years of training particularily in phonetics, Morphology and syntax. I look forward to the preparation by an organised committee of "Introduction to हिमाचली Lingistics".

VI. HISTORICAL LINGUISTICS.

Historical Lingistics, in which a मण्डियाली friend expressed a particular interest, is a much more intricate and technical subject, for Indian Languages, the most important book in this connection is the following one—M. A. Mehendate. "Some aspects of Indo Aryan Linguigstics" University of Bombay, 1968.

No Literary worth the name can do without this very precious book.

VII. Historical linguistics—some examples from Himachali.

That topics of historical lignuistics presuppose a tremendous technique, could be illusrtrated from a single sentence as treated in the masterly book "पहाड़ी भाषा" by shri M. R. Thakur, page 90.

(*i*) "A man had two sons" is expressed in मण्डियाली as follows—
"एकी मनुखा रे दूई घावरु थे"

(2) The कुल्लुई expression for the same is—
की माण्हू रे दूई बेटे थी।

VIII. Historical aspects of एकी

I. " एकी ", Common both to मण्डियाली and कुल्लुई challenges problems requiring many sided technique, for it should be handed as the most fundamental background of linguistic presentation that it is impossible to demonstrate any issue from only two relcated languages.

(2) Apparently "एकी" here functions as an "indefinite article", the use of which in हिमाचली is very extensive.

(3) Parallels to एकी in किन्नर region—cf., in the equally masterly book "किन्नर लोक साहित्य" —" by Dr. Bansi Ram Sharma, page 340 —

(a) एक मानस रो (ध्रोरेस बोली) (b) एक मणशे (चौरा कफौर) (c) p—341. इक मानुस रे (राज ग्रामङ)

IX. Problems From एकी

Now for a single concept of historical linguistics, viz. "the indefinite article", technique will offer the following problems :

(1) What is the first origin of एकी in Indo Aryan ? Could statistical data of its usage be produced from sanskrit literature ?

(2) Mid Indo-Aryan had 27 languages, Viz. 21 Prakrits and 6 अपभ्रंश— Could data of the precursor of this एकी be produced statistically from these 21 Prakrits ?

(3) What is the historical background of the 'ई' of एकी ? Some authorities think that this 'ई' is a phonetic replacement of the dative case termination 'अ' so common in Kashmiri.

What are the other possible views ? could not accent have played some part in replacing this 'अ' by 'ई'

(4) The question of "accent" is indispensable, if any histrocial linguistic problem is to be faced. But where is the Technique for the study of dead phases of languages ?

X. Conclusion

The above data are only illustrative, but to sincere intellect, utility, they are unavoidably important. It is hoped that joint-thinking will succeed in finding some via-media out of this intricacy.

* * * * *

In my last note the lingustic aspects of the word for "a". (Indefinite article) in two speech areas were explained in the present note, the whole word' "of a man " is being presented, as occurring in these two speech areas.

1. मण्डियाली :—

"Of a man" एकी मनुखा रे

Here/ kh/ in this word is a very challenging problem for experts in Indo Aryran linguistics. For, if we refer to the premier reference work on Indo Aryran Linguistics, viz. "A comparative Dictionary of Indo-Aryran Languages" (R. L. Turner) no. 10049, we find there मानुष (1) "human" (2) "man" ऋग्वेद I. But the next stage, Viz. Parkrit shows only माणुस I. But of the 27 Prakrits, not a single one has been shown which may have a/KH/ But सिरमौरी shows माणछ,/CHH/being a cognate more related to /Kh/ than/S/ presented by Prakrit.

(1) मण्डियाली

But though the majr portion of हिमाचली does not show any further trace of Kh/ in "किन्नरी", page 342, (ध्रौरेस बोली) मूरङ has "एक मानुष का" How far the /ष/ here was exactly transcribed, it is not known to me.

Whether the (Kh, Chh, or s), noticed above are only mushroom growths or correctly represent the linguistics phenomena, has to be verified by organised terms, as is being done in soviet.

(2) कुलुई मांण्हु रे "of a man"

The /nhh/ in this कुलुई word is an interesting, established phenonenon, being an incident of a "centralizing Language", which by virtue of very intense accent on a single syllable in the word elide a vowal and by compensation lengthen the vowel. But a brilliant example here occurs in Kashmiri, where we

Scanned with CamScanner

have, for "man" mohonywn (Bailay pronunciation of Kashimri Page 61) (Turner, no. 9827 has mahanyuwn man in Kashmiri. All syllables are perfectly maintained. It is a non centratizing langugage. पाडरी mauhanu indicates just an effort to save a syllable (Turner, no 10049).

(3) " रे ' in both the languages is a complex of a case ending suffix functioning in two ways .

(*a*) Genetive ending traced back to Prakrit/d.d./, but still awaiting investigation into its evolution into /r/ in अपभ्रंश.

(*b*) adjective usage implying /e/ of plural as in / रे /. The processive stages even of this formation await investigation.

(4) Conclusson:

The above data clearly show that both मण्डियाली and कुलुई are technically centralizing langugages as opposed to Kashmiri and Sindhi. If a "training school of हिमाचली linguistics" is ever established, it will include in its syllabus the study of Kashmiri and Sindhi as compulsory backgrounds.

* * * * *

I Introductory :

With reference to page 90 of "पहाड़ी भाषा" for the phrase :

"had two Sons":—

1. मण्डियाली has "दुई धावरू थे," while 2. कुलुई दुई बेटे थी ।

The only identical word in these two areas is दुई which we shall first consider.

II. Problems relating to दुई

It must be definitely stated in connection with these notes that their purpose is to organise a series of questions which are fundamentally essential from the technical point of view. I am following the Soviet method of linguistic reserach in this context.

(1) Now questions concerning the structure of दुई could be suggested by referring to Turner no. 6648 dva "two" the first actual form occur in ऋग्वेद द्वे "two" in feminine and neuter sense. But the first Niya Prakrit document on this word has duvi, dvi, so that the first question in this connection is, has the दुई any thing to do with this duvi ?

The occurrence of /घ/ in मण्डियाली "धावरू" is another problem. Is it due to the metathesis of the aspiration of the next consonant /4/ in the original word? If so, any Typologies of this speech-habit ?

VI. Problems relating to कुलुई बेटे Referring to Turner 9238, Prakrit had bitta-boy, Dardic-Paluria has beti "lamb".

Sindhi has beto-boy, parallel to Hindi. But these mere comparisons are good for nothing.

(1) The central problems is, through which stages did बेटे had to pass before acquiring this form ?

(2) May it not be a mere loan-word from Hindi ?

V. Problems relating to मण्डियाली "थे", कुल्लई "थी"

Turner 13768 has स्थित "standing" occuring for the first time in शतपथ ब्राह्मण Pali has ठित standing-Niya Prakrit-thida, Parkrit-thia, "Standing" Kashmiri thie "in front of" Bhadarwahi-thio, चुराही-thea and thi, Padar thea.

(2) अपभ्रंश has for two "di, bi' European gysi dui, Poguli-dih, Doda Kashmiri-dui, Bhadrawahi, Kashmiri, Padari-dui.

Scanned with CamScanner

(3) mere similarities can never give us a demonstration. It is quite possible that डुई is an innovation of the two areas concerned.

(4) If डुई has been borrowed from any of the above mentioned sources, the processive stages of those borrowings have to be explored.

III. Problems relating to मण्डियाली घाबरू

If we refer to Turner 4057, the word गर्भरूप in a plural form occurs in बालरामायण in the sense of "children". No Mid-Indo Aryan parallels have been shown, so that we are at present quite in the dark about the processive stages of this word. Awankari has 'gabhru' "husband" Padari gobhar- "sons", चुराही gabhru-boy.

IV. In the face of diphthongish forms maintained even in चुराही here are reason to suspect that both these forms थे, थी are loans from some other areas, which have to be investigated.

VI. Conclusion :

"To think is to solve problems" so that if we have any intellectual souls, bristling questions, right and left, must over-whelm us. I hope questions like the above, may be stepping-stones to a higher level of intellectuality.

तुलनात्मक वाक्यावली–गतांक से आगे

हिन्दी महासूई-कुल्लूई

सोमसी के जनवरी 1977 अंक से तुलनात्मक वाक्यवाली का स्तम्भ आरम्भ किया गया था। उसमें हिन्दी महासुई कुल्लूई के कुछ वाक्य दिए गए थे। उद्देश्य यह कि हिमाचल प्रदेश की पहाड़ी भाषा की उपभाषाओं के वाक्यों को हिन्दी की तुलना में अभिव्यक्त किया जाए, जिस से उन उपभाषाओं के निहित व्याकरण की स्पष्टि के लिए आधार सामग्री जुटती चले तथा जो हिन्दी ज्ञाता और हिन्दी प्रयोक्त कर्मचारी वर्ग इन क्षेत्रों में नियुक्त हैं, वह स्थानीय बोलियों का कार्य साधक ज्ञान प्राप्त करता रहे। पिछले अंक में महासूई उपभाषा का रूप शिमला के पूर्वी भाग के साथ लगता ग्रामीण क्षेत्र परगना जुझोत है, यह क्योंथल रियासत की राजधानी जुनगा के साथ दोगड़ा पुल के ऊपर शिमले नदी के आसपास का क्षेत्र है। इस बार महासूई का रूप कोटखाई के क्षेत्र का है। कुल्लूई का रूप पहले भी कुल्लू नगर के आसपास का था, और इस बार भी।

क्रमांक	हिन्दी	महासुई	कुल्लूई
37.	आपका क्या नाम है?	तूहौरो का नांव असौ?	तुसरा की नां सा?
38.	आपके घर कहां हैं?	तूहौ रो घोर कोठी असौ?	तुसरे घोर कोअ सी?
39.	आपका गांव यहां से कितनी दूर है?	तूहौं रा गांव इत्थौ केति दूरैं असौ?	तुसरा ग्रां ओखे न केतरी दूर सा।
40.	आपकी कितनी जमीन है?	तुहौं रै केति जमीन असौ?	तुस्सा आगे केतरी जिमीं सा?
41.	क्या आप अपनी जमीन की खुद काश्त करते हैं	का तूहैं आपनी जमीनों री आपी काशत कैंकोरो।	की तुस्से आपणी जिमी आप्पू बाह सी
42.	हां जी हम अपनी जमीन खुद बोते हैं।	ओ जी, ऐंह आपनी जमीन आपी बोओं नि।	ओ जी आसे आपणी जिमी आप्पू बाह सी।
43.	एक फसल में कितना अनाज हो जाता है।	एकि फसलि दो केति नाज हुऔ?	एकी फसली न केतरा नाज होई जाआ सा।
44.	आपके इलाके में कौन कौन से बड़े मेले होते हैं।	तूहौ रैं इलाकैं दै केओ केजे बड़े बीशू लागौ?	तुसरे इलाके न कुण कुण बड्डी जातरी होआ सी?
45.	आपके पास कितनी भेड़ें और बकरियां हैं।	तूहौ खै केति भेड़ौ बाकरी असौ?	तुसा आगे केतरी भेड़ा होर बोकरी सी?
46.	हमारे पास पच्चास भेड़े और बीस बकरियां हैं।	आंव खै पज्जार भेड़ों और बीश बाकरीं असौ।	आसा आगे पज्जाह भेड़ा होर बीह बोकरी सी।
47.	सात महिलाएं पनघट पर पानी लाने गई हैं।	सात छैंवड़ी बाऊ आगो पानी आनदी देवी	सौत बेटड़ी बाऊड़ी न पाणी आणदी नोठी दी।
48.	छः लड़कियां किताबे पढ़ रही हैं।	छौ छोहटी किताबौ पढ़ौ	छौ याणी कताबा पौढ़दी लागो दी।

क्रमांक	हिन्दी	महासूई	कुल्लूई
49.	ग्यारह लड़के कब्बडी खेल रहे हैं।	ग्यारौ छोहटू कब्बडी खेलौ।	ग्यारा याणें कबड्डी खेलदे लागेदे
50.	क्या आपकी दुकान पर चाय मिलेगी।	का तूंहौ री दुकानि दी चा मिलौ ली।	की तुसरी दुकाना न चाह मिलली।
51.	हां, चाय बना देते हैं।	ओ, चा बनाओ नि।	ओ, चाह बणाई देआ सी।
52.	चाय के कितने दाम हुए।	चाओ रे केति पैसे हुए।	चाही रे केतरे ढब्बुए हुए।
53.	हुक्का तम्बाकू पीने से सेहत का नुक्सान होता है।	तहेल दीऊआ पीयौ नुक्शान हुओ।	हुक्का तमाकू पीणे संघे सेहत खराब होआ सा।
54.	दातन करके, मुंह हाथ धोकर कुछ खा लो।	दाड़न करिओ मुंह हाथ धोयिओ कुछ खाणे रो खै।	बीड़ी केरीया, मुंह हौथ धोइया किछ खाई लेआ।
55.	घर से बाहर भूखे पेट नहीं जाना चाहिए।	घौरौ दो बाहर भूखै पेट नहीं डेवि	घौरा न बाहर भूखे पेटे नीं जाणा चहिए।
56.	गांव के आदमी भोले भाले होते हैं।	गांव रे माहणू भोले भाले हुओ	ग्रां रे लोका भोले भाले होआ सी।
57.	आपका क्या विचार है कि परिवार छोटा या बड़ा?	तूहों रा का विचार असो जे टाब्बर छोटा हुना चाहि कि बड़ा	तुसरा की ख्याल सा जे टब्बर होआ होंणा चहिए कि बड्डा।
58.	बुखार तो नहीं।	बुखार तौ नहीं	जौर ता नीं।
59.	हमारे गांव में हाई स्कूल है।	म्हारे गांव दी हाई स्कूल असौ	आसरे ग्रां न हाई स्कूल सा।
60.	राम को भूख लगी	रामौ भूख लागी	रामा बै भुख लागी।
61.	लड़के को प्यास लगी	छोहटू चीश लागी	याणें बै शौख लागी।
62.	लड़की को लज्जा आई	छोहटि शर्म आणि	याणी बै शरम आई।
63.	मां को सन्तोष हुआ	माओ तस्सली हुई।	मां बै तसल्ली हुई।
64.	मुझे बहुत काम है	मुंह भौरियौ काम कौरनो ओ	मुम्में बड़ा कौम सा।
65.	उसे अपना मित्र मिला	तैस आपणा दोस्त मिला	तईबै आपणा दोस्त मिल्लू
66.	उसे उसके साथ जाना पड़ा	तेस तेस संघो डेवणँ गोए	तैइबै तेई संघे जाणा पोऊ।
67.	घोड़ों ने गाड़ी खेंची	घोड़ै गाड़ी खैंची	घोड़े गड्डी खिजी।
68.	भाई ने पत्र लिखा	भाईए चिठी लिखि	भाइये चिठी लिखी।
69.	सुभद्रा ने कौशल्या को बुलाया	सभद्रै कौशल्या बोदि।	सभद्रै कशल्या शाधी।
70.	मैं सोमवार को आया	आं सैवारै आजा	हांऊ सुहारा बै आऊ
71.	मैं मंगलवार को जाऊंगा	आं मंगलै डेऊला।	मूं मौंगलवारा बै जाणा
72.	मैं रात को काम करता हूं।	आं राति काम कौरू	हांऊ राती कौम केरा सा।
73.	आप कहां जा रहे हैं।	तूंहँ केरखै डेवौ।	तुस्से कौ चोलेदे ?
74.	ईश्वर पर विश्वास करो	भगवानौ गाशै विश्वास कौरौ	परमेशरा न विश्वास केरा।

--कु0 विद्या शर्मा

एक सर्वेक्षण

सिरमौरी पहाड़ी कविता

-कु0 मीना ठाकुर

हिमाचल प्रदेश की पहाड़ी भाषा का विकास एक आंदोलन के रूप में आज से लगभग नौ वर्ष पूर्व सन् 1968 से आरम्भ हुआ। पहाड़ी भाषा के विकास के इस आंदोलन का पहला फल पहाड़ी कविता के रूप में प्रकट हुआ। पहाड़ी भाषा के पांच-छै रूप स्पष्ट हुए। उन की गिनती यदि पूर्व से पश्चिम की दिशा में की जाए तो सिरमौरी, महासूई, कुल्लूई, मण्डियाली, कहलूरी, कांगड़ी और चम्बियाली के नाम गिनाए जा सकते हैं। सिरमौरी इन रूपों में पूर्व में है, अर्थात् यह हिन्दी क्षेत्र के साथ लगते क्षेत्र की भाषा है।

सिरमौर की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है:

"उत्तर में हिमाचल का महासू क्षेत्र, उत्तर-पश्चिम में कुसुम्पटी तहसील (जिला शिमला), पूर्व में तौंस नदी, जो सिरमौर को उत्तर प्रदेश से अलग करती है, दक्षिण में अम्बाला, दक्षिण-पूर्व में यमुना नदी है। नाहन राजधानी बनने से पूर्व सिरमौर की राजधानी सिरमौरी ताल के स्थान पर थी, सम्भवतः 'सिमुर' नाम का वहां कोई प्राचीन ग्राम होगा, उसी के नाम से इस रियासत का नाम सिरमौर पड़ा है। कुछ लोग कहते हैं कि चूंकि सिरमौर का अर्थ शिरोमणि है इस लिए पहाड़ी रियास्तों में सिरमौर का महत्व सब से अधिक शिरोमणि वाला रहा है।"

पहाड़ी कविता के प्रकाशित और प्रसारित रूप हमें राज्यभाषा संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका हिम-भारती (मार्च, 1969 से आरम्भ) उस विभाग की तीन पुस्तकों' काव्यधारा भाग एक, दो और तीन तथा मासिक पत्रिका हिमधारा, एवं आकाशवाणी शिमला के प्रसारणों, इन चार स्रोतों से प्राप्त होते हैं। इन चारों के स्थूल सर्वेक्षण के आधार पर यह तथ्य एक दम स्पष्ट होकर उभरा है कि संख्या में कांगड़ी कविता अधिक है। गुण और स्तर का प्रश्न अलग है। पहाड़ी कवियों की संख्या में भी कांगड़ी कवियों की ही अधिकता है।

सिरमौर क्षेत्र सांस्कृतिक पक्ष में अन्य बातों के लिए तो पर्याप्त प्रसिद्ध है। यहां की ग्राम्य नाटिका करियाला और अन्य ग्राम्य नाटियां, एवं लोकगीतों में वीरगाथाएं (हारें) स्वतंत्रता संग्राम के योगदान में यहां का पझौता आंदोलन, यहां के दो प्रसिद्ध तीर्थ स्थान रेणुका और पांवटा साहब पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। परन्तु पहाड़ी भाषा के साहित्य के योगदान में सिरमौर का महत्व कोई विशेष रूप से नहीं उभरा, हिन्दी साहित्य और नाट्य कला आदि में इस का योगदान अवश्य उल्लेखनीय है। स्थूल सर्वेक्षण के लिए हम राज्य भाषा संस्थान की तीन काव्य पुस्तकों को लेते हैं, इनमें सन् 1969-1974 तक के छै वर्षों की पहाड़ी

कविताओं के संकलन हैं। ये पुस्तकें काव्य धारा के नाम से प्रकाशित हैं। इन में स्थिति इस प्रकार है :–

क्रमांक	पुस्तक का नाम	कुल संकलित कविताएं और कवियों की संख्या	सिरमौरी की कविताएं और कवि	कुल के साथ प्रतिशत
1	2	3	4	5
1.	काव्यधारा भाग-1 अक्तूबर, 71 में प्रकाशित ।	71 कविताएं, 45 कवि	5 कविताएं 3 कवि	7 7
2.	काव्यधारा भाग-2 फरवरी, 74 में प्रकाशित ।	93 कविताएं 37 कवि	3 कविताएं 3 कवि	3 8
3.	काव्यधारा भाग-3 मार्च, 76 में प्रकाशित ।	107 कविताएं, 62 कवि ।	9 कविताएं 4 कवि	7 5

इस स्थूल सर्वेक्षण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :–

(क) इन तीनों पुस्तकों में सिरमौरी के चार या तीन कवि हैं और वे हैं भी वही अर्थात् श्री अनिल राकेशी, श्री रामदयाल नीरज और श्री चन्द्रमणि वशिष्ठ तथा श्री उदय राम इन में से दो की प्रथम निष्ठा हिन्दी के साथ भलीभांति विदित है और तीसरे श्री चन्द्रमणि वशिष्ठ के लिए साहित्य केवल समाज सुधार का छोटा सा साधन है। श्री उदय राम लोकगीतनुमा कविताएं लिखते हैं। छः वर्षों में सिरमौरी के केवल वही चार कवि राज्यभाषा संस्थान के लिए प्रकाशनीय रहे हैं।

(ख) हिमाचल प्रदेश में पहाड़ी भाषा के सात रूप राज्यभाषा संस्थान द्वारा माने गए हैं, सिरमौरी, महासुई, कुल्लूई, मंडियाली, कहलूरी, कांगड़ी और चम्बियाली। इस तरह स्थूल गणित के अनुसार प्रत्येक के हिस्से चौदह प्रतिशतता आती है।

छः वर्षों की अवधि की इन तीन पुस्तकों में स्थिति इस प्रकार है :–

कविताओं की प्रतिशतता—736=16-3=5$\frac{1}{3}$ (औसत प्रतिशत)
कवियों की प्रतिश्तता—785=203=6$\frac{2}{3}$ (औसत प्रतिशत)

इस औसत प्रतिशतता को वांछित चौदह की प्रतीशतता से घटाकर कविताओं में 8$\frac{2}{3}$ प्रतिशतता की अर्थात् आधे से ज्यादा की कमी है। और कवियों में भी 7$\frac{1}{3}$ प्रतिशतता की कमी अर्थात् आधे से ज्यादा की कमी है। चूंकि सिरमौरी के कवि छः वर्षों में लगभग वही तीन रहे हैं। इसके साथ यह भी प्रतीत होता है कि सिरमौरी पहाड़ी सिरमौर में साहित्य स्तर पर आकर्षक नहीं हुई। इन दोनों निष्कर्षों से प्रकट हुई स्थिति के भीतर छिपे कारणों का पता लगाया जाना चाहिए।

इन तीन कवियों की उपर्युक्त तीन पुस्तकों में संकलित कविताओं का सर्वेक्षणात्मक परिचय प्राप्त करना भी प्रासंगिक होगा। इसे भी हम सारणीबद्ध करके दिखाते हैं—

कवि	कविता	संकलन पुस्तक
1	2	3
श्री अनिल राकेशी	1. शिरिष रो साल फुलदे हर साल	काव्यधारा भाग एक
,,	2. बस स्टाप रे शैड में	काव्यधारा भाग दो
,,	3. मौए आपणी लड़ाई न हारिए	काव्यधारा भाग 3
,,	4. तिनिए डुगडुगी बजाय रो	काव्यधारा भाग तीन
,,	5. आ बुब्बा, थुड़ी शी बेर	काव्यधारा भाग तीन
श्री राम दायल नीरज	1. झुरिये	काव्यधारा भाग एक
,,	2. कणका रे सायरे	काव्यधारा भाग एक
,,	3. झूरियां	काव्यधारा भाग दो
,,	4. मां रैणुका	काव्यधारा भाग तीन
श्री चन्द्रमणि विशिष्ठ	1. हिमगीता (अनुवाद)	काव्यधारा भाग एक
,,	2. चौथे छोटू री बीथा	काव्यधारा भाग एक
,,	3. शहीद मेरे देशो रे	काव्यधारा भाग दो
,,	4. परशू रा डांगरो	काव्यधारा भाग तीन
,,	5. आं हिमाचलिया	काव्यधारा भाग तीन

श्री उदय राम की तीन कविताएं लोकगीत नुमा हैं।

छः वर्षों की तीन प्रतिनिधि पहाड़ी काव्य पुस्तकों में संकलित कुल दो-सौ इकहतर कविताओं में से सिरमौरी पहाड़ी की उपर्युक्त कुल चौदह कविताएं हैं। कुल का ये केवल पांच प्रतिशत है। स्तरीयता की दृष्टि से कह सकते है कि श्री राकेशी मूलतः हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। इसलिए उनकी पहाड़ी कविता में स्तरीयता है, उसमें युगबोध है, समयानुकूल व्यंग्य है। श्री नीरज मूलतः विद्वान सम्पादक हैं वह भी हिन्दी के कवि अवश्य हैं परन्तु उन्होंने अपने कवि रूप को पहाड़ी कविता में उंडेला नहीं, पहाड़ी कविता को वह सिद्धान्ततः पहाड़ी लोकगीत का संशोधन ही मानते हैं और अपने इस सिद्धान्त को ही इन्होंनें चरितार्थ भी किया है। श्री चन्द्रमणि वशिष्ठ मूलतः पहाड़ी गीतकार हैं, अतः इनकी कविताएं छोटे-छोटे गीत हैं। गीतों का महत्व गायिकी में होता है। युगबोध की कविता का एक अलग तथ्य है। हाल ही में श्री विद्या नन्द सरैक ने अपने पहाड़ी गीतों का संकलन "चिट्टे चादर" नाम को पुस्तक में हिमाचल कला संस्कृति अकादमी की वित्तीय सहायतता से प्रकाशित करवाया है। इस पुस्तक का महत्व गायिकी और सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक है और काव्यशास्त्र की साहियिक दृष्टि से कम।

सिरमौरी कविता का सर्वेक्षण केवल एक पुस्तक के आधार पर अधिक निकटता से करना भी अपने आप में एक अलग दिशा का परिचायक होगा। उदाहरण के लिए हम काव्यधारा भाग तीन लेते हैं—

प्रस्तुत पुस्तक पहाड़ी कविताओं का संकलन है। राज्यभाषा संस्थान द्वारा इससे पूर्व दो संकलन छप चुके हैं। इस पुस्तक में प्रदेश सरकार द्वारा विभिन्न अवसरों पर आयोजित पहाड़ी कवि सम्मेलनों में पढ़ी गई इन कविताओं में से छांटकर कुछ कविताएं संकलित हैं।

Scanned with CamScanner

संकलित कविताओं की संख्या एक सौ-सात है जो कि त्रेसठ कवियों द्वारा रचित है। इन का उप-भाषावार वितरण इस प्रकार है :-

क्रमांक	उपभाषा	कवि	कविताएं
1.	सिरमौरी	4	9
2.	महासूई	10	19
3.	कुल्लूई	4	6
4.	कहलूरी	4	6
5.	मंडियाली	6	8
6.	कांगड़ी	31	53
7.	चम्बियाली	4	6
	कुल	63	107

कुल त्रेसठ कवियों में इकतीस कवि कांगड़ी के हैं, अर्थात् पचास प्रतिशत कवि कांगड़ी के हैं, इसी तरह कुल एक सौ-सात कविताओं में से त्रेपन कविताएं कांगड़ी की हैं। अर्थात् पचास प्रतिशत कांगड़ी की है। महासूई का भाग लगभग पन्द्रह प्रतिशत है, मंडियाली का भाग लगभग दस प्रतिशत है और शेष चार का अर्थात् सिरमौरी, कुल्लूई, कहलूरी और चम्बियाली चारों का मिला कर पच्चीस प्रतिशत है।

इसे एक दूसरे दृष्टिकोण से अवलोकित किया जा सकता है। जिन कवियों की तीन कविताएं इस में संकलित हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं :-

क्रमांक	उपभाषा	कवि
1.	सिरमौरी	2
2.	महासूई	3
3.	कुल्लूई	शून्य
4.	कहलूरी	शून्य
5.	मंडियाली	1
6.	कांगड़ी	5
7.	चंबियाली	1

चूंकि कुल त्रेसठ (63) कवियों की एक सौ-सात कविताएं पुस्तक में संकलित हैं, इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक की औसत दो है। इस औसत की अधिक संख्या तीन है, अत: हमने तीन-तीन कविताओं वाले कवि छांटे हैं। इस स्थूल सर्वेक्षण में भी कांगड़ी प्रथम और महासूई द्वितीय है।

उपर्युक्त दोनों स्थूल सर्वेक्षणों में कांगड़ी प्रथम और महासूई द्वितीय ठहरी। इतना सर्वसम्मत है कि पहाड़ी कविता अधिकतर और अधिकांशतः सामूहिक श्रवण की वस्तु है, एकान्त में पढ़ने की इतनी नहीं। इस दृष्टिकोण से भी कांगड़ी के दो कवि हुए, डा0 पीयूष गुलेरी और भगत राम मुसाफिर तथा महासूई की बघाटी-हिंडूरी का एक कवि जयदेव किरण प्रमुख और प्रसिद्ध हैं।

ऐसी स्थिति म एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कांगड़ी में सहज काव्यशक्ति निहित है अथवा कांगड़ी कवियों को प्रोत्साहन अधिक मिला है? और अन्य उप-भाषाओं के कवियों को उतना प्रोत्साहन नहीं मिल पाया। महासू और सिरमौर के गांव में छोटी सामाजिक घटना पर कितने आशु कवि एक दम कविता बना देते हैं और वह कविता गायन (गीत) बनकर आसपास के इलाकों में प्रसिद्ध हो जाती है। या विश्लेषण की बात है कि क्या महासू-सिरमौरी क्षेत्रों के गांवों की ऐसी ग्राम्य-प्रतिभा को तलाश किया गया है, अथवा नहीं। यदि किन्हीं कारणों से अभी एसा नहीं हो सका है तो अब अवश्य किया जाना चाहिए। कुल मिला कर निम्नलिखित प्रश्न हमारे सामने उभरते हैं :-

(1) सिरमौरी कविता मात्रा में कम है परन्तु स्तरीयता में उचित स्तर बनाए हुए है।

(2) सिरमौर की राजधानी नाहन में पहाड़ी की अपेक्षा हिन्दी-उर्दू का मिलाजुला हिन्दुस्तानी रूप प्रमुख रहा। सिरमौर के पहाड़ी कवियों के सामने हिन्दी-उर्दू कविता की स्तरीयता बनी रही।

(3) कांगड़ी उपभाषा का क्षेत्र हिन्दी-उर्द के कथ्य रूप के प्रभावक्षेत्र से दूर था अतः वहां के कवियों की सर्जन शक्ति कांगड़ा पहाड़ी लोक साहित्य से सट कर उभरी और साहित्यिक स्तर को छूने का प्रयास करती रही।

(4) सिरमौर-महासू क्षेत्र के गांवों में मेलों-त्यौहारों पर स्थानीय पहाड़ीं कवियों के द्वारा कविता पढ़वाने के प्रयत्न किये जाने चाहिएं।

पाठकीय

INTRODUCTORY

In the journal सोमसी for October, 1976 pages, 48-52 there appears an article entitled भाषा वसुधों की धातु

I was deeply impressed by the many sided penetration of this article. From the scientific point of view, a "socio linguistic Complex" could be, discerned as illustrated in the phenomena described on page 52, para 1, where among गादी and चुराही people spontaneous internal changes have been described, indicating a tendency to respond to changing environments. The scientific technician will describe all such phenomena of integration or disintegration under one over-all term.

Adaptation

Adaptation, according to encyclopaedia is "a process of filling or modifying a thing to other uses, and so altering its form or original purpose. In literature, e.g., an adaptation of a novel for a drama ". For this term, the Govt. of India शब्द संग्रह has the term अनुकूलन

Introductory

The Himachali Sub-groups are spontaneously adopting themselves to the process envolving a common socio-linguistic complex.

In modern linguistics, the subject which considers speeches of sub-groups is termed-'Areal linguistics' being pivoted on diverse areas or regions as a convenient, conventional starting point.

II. Himachali lingusitic factors of Adaptation parallel to spontaneous adaptations revealed by various regional people, noticed above, in the field of cultural reproachement. There are certain factors of human language, which on a frequency basis, manifest an outstanding potentiality for adaptation. These factors are most frequent in any language, so that neighbouring people tend to make them more or less similar. They are—

1. Pronouns
2. particles.

III. factors of adaptation

(1) Pronouns

It is a well known fact that pronouns are some of the most frequent elements of any languauage. The english part of speech termed the "articles " 'the' or 'a' as linguistic pronouns.

Now in this note I have gleaned from this issue of सोमसी some examples occurring in the article शब्द श्री page 77—
(a) तिसे "उसने"

If we refer to Turner" Compartive Dictionary of Indo Aryan Lanuages no. 5612 "ta"' is stated to be a base of 'all obl. sg. pronouns', with which are connected kashmiri tas, Torvali tes, Nepali tyas, Hindi tis

(b) सा " वह "

There is an enormous number of pronouns in Indo Aryan in which for the sense of "वह' the Consonant /s/ is common, though vowels differ, eg. Turner no. 12815 gives us the following data- Bhadarwahi चुराही (Se) Sindhi, Panjabi (so) Kashmiri /su/ Dardic Maiya (Soh).

(2) Particles—

Particles, for which the most common Hindi term is अव्यय indicate words like (a) नी "not"

Turner 7035 traces such forms to a combination of two words in Vedic 'nahi' not indeed, which in Hindi has been evolved into a single word नहीं while other languages like Dogri it has become नईं or नी
(b) के "of plural" the extension का, के की in many Indo Aryan Languages is wonderfully wide. Eeven Kashmiri, which has a variety of exposing the genitive, it has been incorporated as one of the mechanisms for का, के, की

viz., the suffix k, e.g. Kashmiri, danuk "of wealth," mulkuk / of country" (Bailey: "The pronunciation of Kashmiri" (page 37)

III Conclusion

The above data will indicate, as another paralled to " भाषा, धातु " viz. the biological nature of language as a spontaneous process of adaptation. But the drastic demands of scientfic method, indispensably require a demonstration of the process Concerned.

—**Siddheswar Varma.**

डा० सुनीति कुमार चैटर्जी के निधन पर शोक प्रस्ताव

भाषा एवं संस्कृति विभाग,
हिमाचल प्रदेश, शिमला-9

भारत के प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक और मानविकी के हितचिन्तक विद्वान डा0 सुनीति कुमार चैटर्जी के निधन पर हिमाचल प्रदेश भाषा-संस्कृति विभाग एवं हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी के सदस्य गहन शोक का अनुभव करते हैं तथा प्रभु से प्रार्थना करते है कि उनकी दिवंगत आत्मा को शान्ति प्राप्त हो। हम सन्तप्त परिजनों के साथ हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं। डा0 चैटर्जी का जन्म 26 नवम्बर, 1890 को हुआ था। 1922 से 1952 तक 30 वर्षों तक आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में, भारतीय भाषा-विज्ञान और ध्वनि-विज्ञान के प्रोफेसर रहे। आप 1952 से 1965 तक पश्चिमी बंगाल की विधान परिषद के अध्यक्ष रहे। 1965 में भारत सरकार ने आपको पद्मभूषण की उपाधि से विभूषित किया।

1956-57 में आप भाषा आयोग के सदस्य रहे। तदुपरान्त आप संस्कृत आयोग के अध्यक्ष रहे। 1963 में भारत सरकार द्वारा आपको पद्म विभूषण की उपाधि से अलंकृत किया गया।

आप 1965 से मानविकी विषय में भारत के राष्ट्रीय प्रौफेसर रहे। अगस्त, 1969 से आप साहित्य अकादमी के अध्यक्ष रहे तथा 1971 से हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी के सदस्य थे।

ओरियण्ट्ल-अफरीकन स्टडीज लन्दन में आप इन्डोएरियन लिंग्विस्टिक्स में रिसर्च स्कॉलर रहे हैं। लन्दन में ही आपने गुरू देवेन्द्र नाथ टैगोर और निकोलस रोरिक का परस्पर परिचय करवाया था। भारत के भाषा सर्वेक्षण में आपने जार्ज ग्रियर्सन के साथ दो वर्ष पर्यन्त कार्य किया था। संस्कृत, इन्डोएशियन, इन्डोयूरपियन, मिडल परशियन आदि प्राचीन भाषाओं के आप प्रकाण्ड विद्वान थे।

भाषा के अतिरिक्त साहित्य कला और पुरातत्त्व में आपकी विशेष रुचि रही है और आपने इनका गहराई से अध्ययन किया था। व्याकरण और भाषा-विज्ञान पर अंग्रेजी और बंगला में आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

हिन्दी उर्दू लेखक कृष्ण चन्द्र के निधन पर शोक प्रस्ताव

भाषा एवं संस्कृति विभाग,
हिमाचल प्रदेश, शिमला-9

भारत के महान साहित्यकार कृष्ण चन्द्र ने अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से भारत की दबी कुचली जनता का चित्रण किया तथा सदा उनके पक्षधर रहे। कृष्णचन्द्र केवल भारत के ही नहीं वरन् एशिया के एक महान लेखक थे जिनकी रचनाओं के अनुवाद विश्व की 34 से भी अधिक भाषाओं में हुए हैं। उन्होंने अपनी व्यंग्यात्मक रचनाओं द्वारा भी अपने लिए और देश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की ख्याति अर्जित की। ऐसे महान सपूत और साहित्यकार के प्रति भाषा एवं संस्कृति विभाग तथा हिमाचल कला-संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला के सदस्य अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित करते हुए उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं एवं संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं।

आर0 एन0 28217/75

H.A.A.C.L.

निदेशक, शिक्षा विभाग, हि0 प्र0 द्वारा पत्राङ्क ई डी एन-एच (8)-6(3) 1/75, 24 फरवरी, 1975 के अनुसार प्रदेश के समस्त कालेजों, पाठशालाओं व ज़िला पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत।

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परीमहल, शिमला-9 द्वारा प्रसारित तथा उप-नियन्त्रक, मुद्रण तथा लेखन-सामग्री, हिमाचल प्रदेश, शिमला-3 द्वारा मुद्रित।

tharahkardu.in